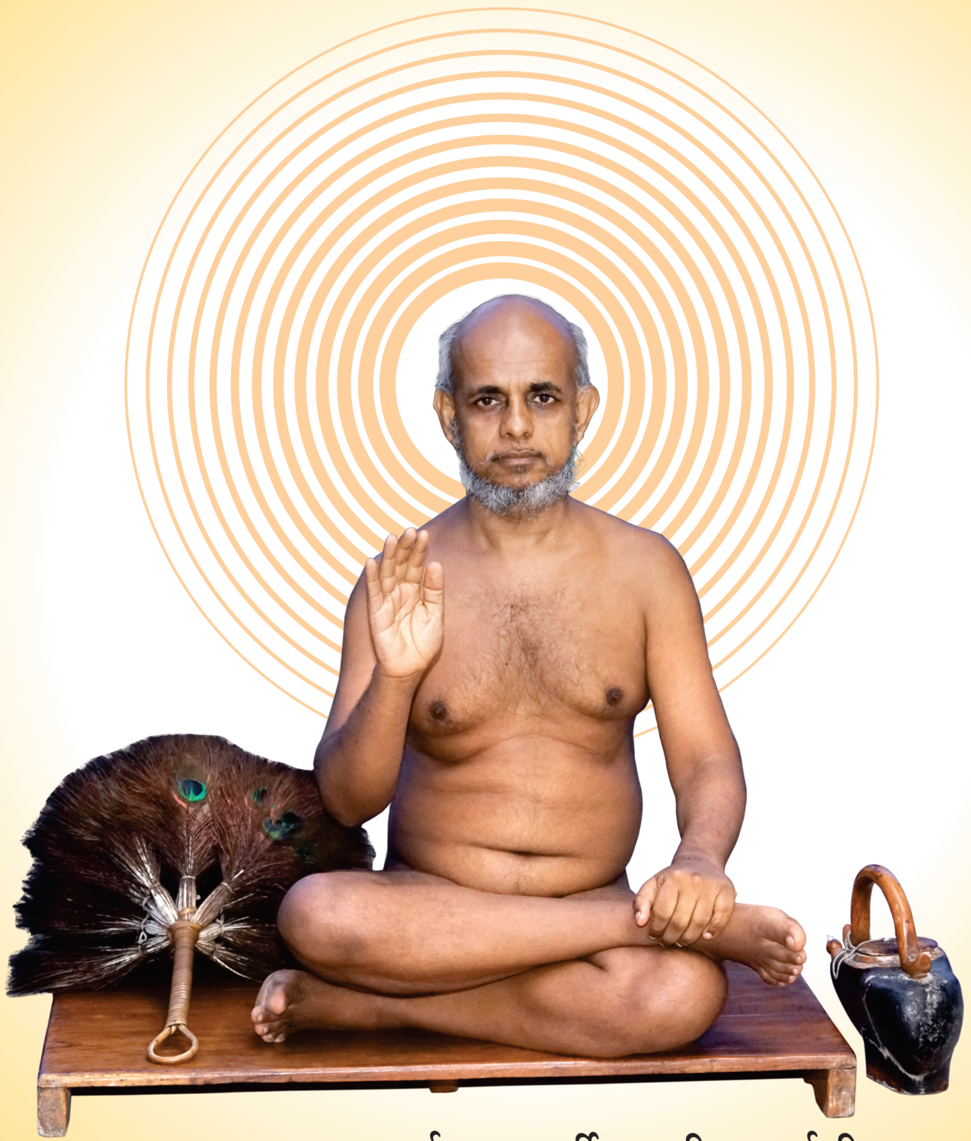

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

आचार्य ज्ञानसागर के वाङ्मय में
नय-निरूपण

(निश्चय:व्यवहार)

प्रकाशक
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर
श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी, सांगानेर (जयपुर)

(परम्परानायक)

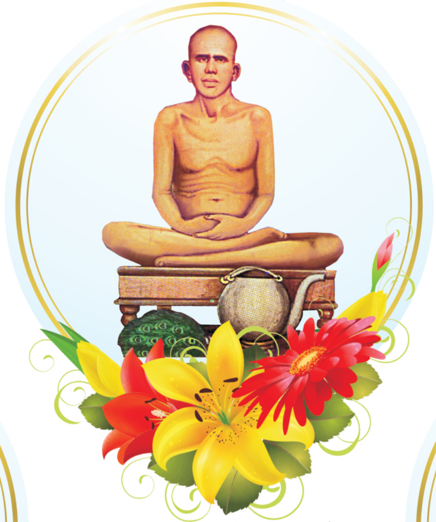

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

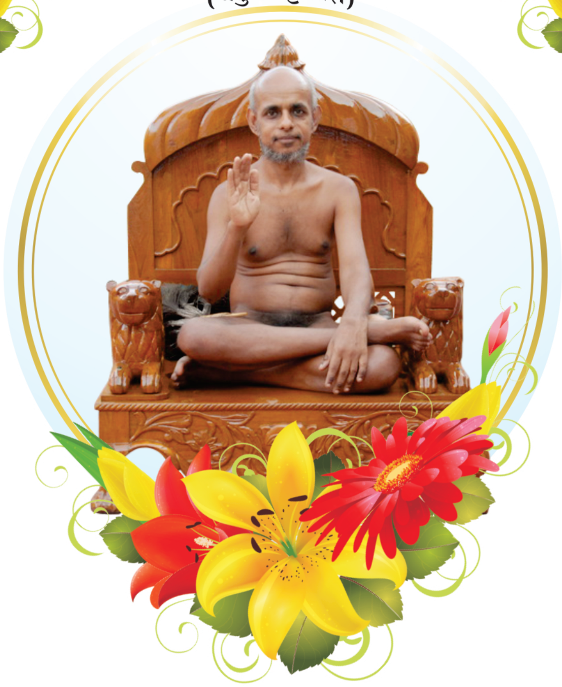

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

906

आचार्य ज्ञानसागर के वाङ्मय में

नय-निरूपण

(निश्चय:व्यवहार)

43/28

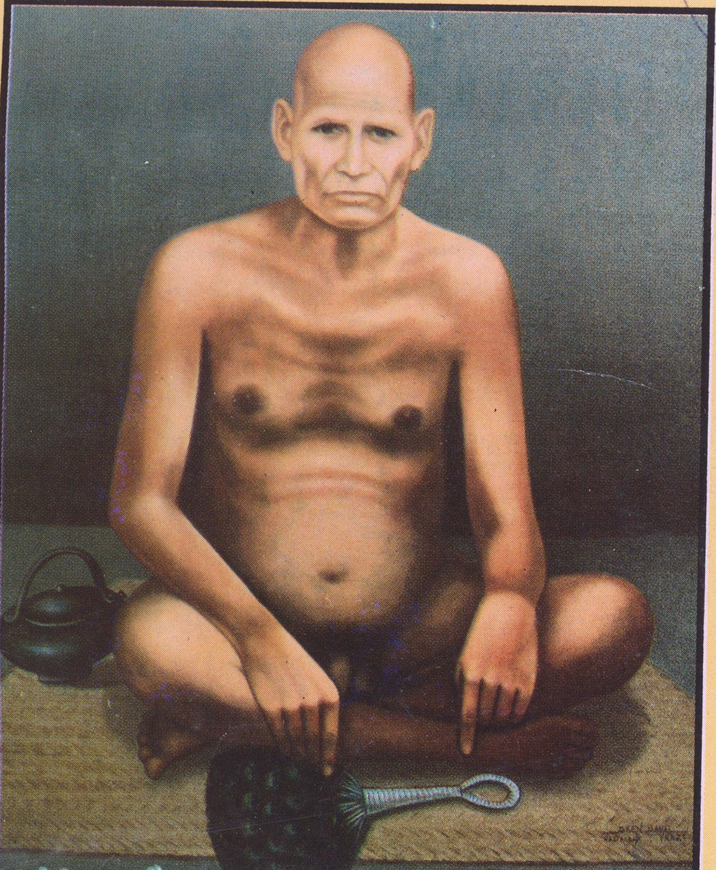

श्री दिगम्बर जैन महाकवि आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज

प्रकाशक/प्रकाशन

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी, सांगानेर-जयपुर

आचार्य ज्ञानसागर के वाङ्मय में नय-निरूपण (निश्चय:व्यवहार)

आशीर्वाद एवं प्रेरणा
मुनि श्री सुधासागरजी महाराज
क्षु. श्री गम्भीरसागरजी महाराज
क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

लेखक :
शिवचरन लाल जैन, मैनपुरी
सीताराम मार्केट
मैनपुरी - 205001 (उ. प्र.)

प्रकाशक : प्रकाशन
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर
श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी
सांगानेर - जयपुर (राज.)

अवतरण

वर्तमान काल में प. पू. 108 आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज का ज्ञान के क्षेत्र में युगान्तरकारी महात्मा के रूप में यश विख्यात है । इनके वाङ्मय का समुचित प्रचार-प्रसार का महनीय कार्य प. पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के प्रधान शिष्य प. पू. मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज के पावन प्रयत्नों के सम्पादित किया जा रहा है । इन्हीं की प्रेरणा से आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, पू. ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा स्पष्ट विविध-विषयों को पल्लवित करने हेतु विद्वज्जनों से बड़े शोध-प्रबन्ध भी रचित किये जाने का कार्य निरन्तर कर रहा है ।

पिछले वर्ष 1995 में पू. सुधासागरजी महाराज के आशीर्वाद के भाई पं. अरुणकुमारजी शास्त्री, ब्यावर द्वारा प्रस्तुत महानिबन्ध लिखने हेतु आग्रहपूर्ण पत्र प्राप्त हुआ था । साथ ही मदनगंज-किशनगढ़ में 'जयोदय-संगोष्ठी' के अवसर पर पुनः स्मरण भी दिलाया गया । इसी गतिविधि के फलस्वरूप यह ग्रन्थ अवतरित हुआ है । इसमें प. पू. दिगम्बराचार्य 108 आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के ज्ञान प्रसार विषयक अभीष्ट रुचि के प्रति मेरी श्रद्धा पू. सुधासागरजी महाराज के चरणों में विनय से संश्लिष्ट होती हुई प्रधान कारण रही है ।

अज्ञानता वश मेरी त्रुटियों को पाठकगण क्षमा करेंगे एवं विद्वज्जन आवश्यक सुझाव भी देंगे ऐसा मुझे विश्वास है ।

दि. 9.9.96 — शिवचरन लाल जैन

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	विषय	पृष्ठ
1.	मंगलाचरण	1
2.	आचार्य ज्ञानसागरजी व्यक्तित्व एवं कृतित्व	1
3.	नय निरूपण	3
4.	निश्चय-व्यवहार नय	4
5.	परिभाषायें निश्चय-व्यवहार	5
6.	निश्चय नय	7
7.	व्यवहार नय	8
8.	आचार्यश्री की नय योजना	9
9.	नय-स्वरूप वर्णन	11
10.	नय-प्रयोग कौशल	15
11.	विवेकोदय	19
12.	शुद्धाशुद्धत्व	20
13.	निश्चय-व्यवहार सम्यक्त्व	23
14.	व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग	24
15.	जयोदय महाकाव्य	30
16.	व्युत्पत्ति-चमत्कार	34
17.	अनेकान्त सिद्धी	34
18.	सरस्वती मूर्ति से अनुयोग सिद्धि	36
19.	वीरोदय महाकाव्य	36
20.	सप्तभंगी नय	37
21.	प्रवचनसार	41
22.	सराग वीतराग चारित्र	41
23.	आत्मानुभव का सद्भाव	47
24.	पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ-शुद्ध उपयोग	49
25.	सम्यक्त्वसार शतक	52

26.	पर्याय-व्युत्क्रम, नियतिवाद, अशलमरण	53
27.	अकालमरण	56
28.	उपादान निमित्त	58
29.	समयसार	61
30.	निश्चय-व्यवहार स्वरूप व्यापक चर्चा	62
31.	व्यवहार भी उपादेय	66
32.	व्यवहार से निश्चय एवं निश्चय से व्यवहार	67
33.	ज्ञानी का स्वरूप	68
34.	कर्त्ता-कर्म भाव	71
35.	पाप-पुण्य लोहे सोने की बेड़ी	80
36.	कर्मबन्ध का स्वरूप	82
37.	सम्यग्दर्शन के विषयभूत नव-पदार्थों का स्वरूप	85
38.	नय-निरूपण स्थल	87
39.	नय-निरूपण का वाच्यार्थ कारकों के परिप्रेक्ष्य में	91
40.	आचार्य ज्ञानसगर महाराज के नय निरूपण का सारांश	92
41.	निश्चयाभास	95
42.	व्यवहाराभास	96
43.	उभयाभास	96

❑ ❑ ❑

मङ्गलध्वनि

वीर ! त्वमानन्दभुवाम वीरः

मीरो गुणानां जगताममीरः ।

एकोऽपि सम्पतितमामनेक

लोकाननेकान्तमनेन तेक ॥ वीरोदय – 5॥

– प. पू. आ. ज्ञानसागर महाराज

आचार्य ज्ञानसागर के वाङ्मय में नय-निरूपण (निश्चय : व्यवहार)

– शिवचरन लाल जैन, मैनपुरी

1. मंगलाचरण

हे कर्मभूमेः प्रथमोपदेष्टिन्
श्री नाभिराज्ञश्च सुधन्यपुत्र ।
षट्कर्मणामाध प्रवर्त्तकोऽसि
मिथ्यान्धकारं दूरं कुरुष्व ॥
एकान्तवादीन् नैयायिकादीन्
स्याद्वादसिद्धान्तबलेन जित्वा ।
यो धर्मरक्षामकरोत् स सन्मते
मिथ्यान्धकारं दूरं कुरुष्व ॥
सुविद्यासुधया येन भक्ताभक्तजनाश्रितः ।
मूढत्रयतापसन्दोहः दुर्निवारः निराकृतः ॥
स्वनामधन्यं ज्ञानाब्धिं रत्नत्रयगुणाकरं ।
काव्यस्त्रष्टां विनिर्नौमि सूरिं ज्ञानसागरम् ॥ युग्म ॥

अर्थ – 1. जिन्होंने सुविद्या अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूपी सुधा अर्थात् अमृत के भक्त और अभक्त (प्रशंसक एवं निन्दक) दोनों प्रकार के मनुष्यों में व्याप्त देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता रूपी दुनिर्वार अज्ञान एवं दु:ख-समूह को नष्ट कर दिया है।

2. (पू. आ. विद्यासागरजी एवं सुधासागरजी महाराज के पक्ष में) जिन्होंने समीचीन सच्चे निर्ग्रन्थ श्रमण विद्यासागर से उत्पन्न अथवा दीक्षित पू. मुनि सुधासागरजी महाराज के द्वारा अर्थात् परम्परा के अद्यावधि उपरोक्त प्रकार वर्णित अज्ञान समूह को नष्ट कर दिया है ऐसे स्वनामधन्य ज्ञान के समुद्र, रत्नत्रय गुण के भण्डार काव्यस्त्रष्टा पू. आचार्य ज्ञानसागरजी को सविनय नमस्कार करता हूँ।

2. पू. आचार्य ज्ञानसागरजी : व्यक्तित्व और कृतित्व

चारित्र चक्रवर्त्ती प. पू. आचार्य शान्तिसागर-परम्पराकाश में एक ऐसे प्रखर ज्ञान-नक्षत्र का उदय हुआ जिसने अपनी दिव्य-प्रभा से लोकवर्त्ती अज्ञान अन्धकार को नष्ट कर अद्यावधि महिमा सुस्थापित रूप में अक्षुण्णतया विद्यमान रखी है। वह दिव्यात्मा परम-पूज्य स्व. आचार्य ज्ञानसागरजी के रूप में विख्यात है । प. पू. आचार्य विद्यासागरजी एवं उनका विशाल संघ

इसका ज्वलन्त प्रमाण है। उनके प्रधान मार्गानुसारी शिष्य प. पू. मुनिराज सुधासागरजी महाराज के अपने दादागुरु के लिए किये गये प्रभावना-प्रयत्न इसके साक्षी हैं।

आचार्य ज्ञानसागरजी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। धर्माचरण एवं तप में वे एक उदाहरण के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अपने ही दीक्षित शिष्य को (आचार्य विद्यासागरजी को) आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर स्वयं उनसे अपनी समाधि सम्पन्न कर उन्होंने विनय तप की प्रकृष्टता को सिद्ध किया था। वे प्रखर प्रज्ञापुञ्ज एवं संघ के कठोर अनुशासनप्रिय थे। ज्ञान एवं क्रिया की एकात्मता उनके जीवनकाल के हर पल में विद्यमान रही। जन्मभूमि राजस्थान की माटी ने अपनी प्रकृति के अनुकूल ही उन्हें मोक्षमार्ग में वीरत्व प्रदान किया था। वे जिनवाणी के अनन्य भक्त के रूप में अपने नाम को सार्थक बनाने में सफल हुए थे। साहित्य सृजन उनकी जन्म-जात प्रतिभा थी। वे शब्दशास्त्र के सारस्वत पुरोधा थे। अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग कर उन्हें प्रसिद्ध करने में उनकी महती रुचि थी। शब्द के विभिन्न अर्थों का प्रयोग और व्युत्पत्ति-वैचित्र्य हेतु वे एकछत्र रूप में मान्य हैं। वर्तमान में संस्कृतभाषा की श्रेष्ठ सुमधुर, ललित एवं आत्महितपरक जिनागमानुकूल काव्य-रचना कर उन्होंने चमत्कार ही किया है। वे अधुनातन युग के धनञ्जय हैं जिन्हें भाषा, साहित्य, व्याकरण, काव्य, अलङ्कार, छन्द, रस, न्याय, अनेकान्त, दर्शन, आचार, अष्टांग निमित्त एवं मंत्रशक्ति का सम्मिलित मूर्त्तिमान स्वरूप कहना अतिशयोक्ति न होगी।

वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे। साधुसंघों हेतु ज्ञानदान का महनीय कार्य उन्होंने सम्पादित किया था। आचार्य शान्तिसागरजी एवं वीरसागरजी महाराज की सेवा का फल उन्हें जीवन सफलता हेतु मिला था। वे दृढ़ विचारशील, स्वभाव से ही परोपकारी एवं धर्मप्रभावक थे। सन् 1952 में प. पू. आचार्य वीरसागरजी महाराज के संघ के साथ ब्र. भूरामल शास्त्री के रूप में उनका मैनपुरी आगमन हुआ था।

वे अनेकान्त के सफल प्रस्तोता के रूप में प्रसिद्ध हैं। एकान्त का निरसन कर समीचीन आर्षमार्ग की प्रतिष्ठा उन्हें प्रिय थी। वे नय विशारद थे, स्याद्वाद शैली का उत्कृष्ट मानदण्ड उन्होंने स्थापित किया था। उनके व्यक्तित्व को प्रकट करने हेतु अनायास रचित उनकी प्रस्तुत पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

"श्रीमान् श्रेष्टिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं।
वाणीभूषण वर्णिनं घृतवरीदेवी च यं धीचयं।"

(जयोदय प्रत्येक सर्गान्त)

अर्थात् वे भूर एवं अमल (विशिष्ट निर्मल व्यक्तित्व के धनी), (वाणीभूषण उपाधि से युक्त होना सार्थक था), वाणी रूपी आभूषण के धारक अथवा जिनवाणी में शोभायमान थे। वे चतुर्भुज श्रेष्ठी एवं घृतवरी देवी के पुत्र थे। यहाँ अनायास ही विलक्षण अर्थ सम्भावित है। चतुर्भज अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप द्रव्य के स्वचतुष्टय की स्थापना के साथ ही वे घृतवरी अर्थात् घृतान्वेषी गोपिका के समान अर्पित-अनर्पित (मुख्य-गौण) यानी मथानी की रस्सी के एक छोर को आकर्षित कर अन्य को शिथिल करने की पद्धति के समान नयों की सापेक्षता से अनेकान्त प्रमाण को धारण करनेवाली सरस्वती के पुत्र थे। स्वचतुष्टय

की अपेक्षा द्रव्य का अस्तित्व एवं पर चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व जैनदर्शन का मूल तत्त्व है वही उनको प्रिय था । वे अनेकान्त के प्रबल समर्थक थे ।

उपरोक्त पंक्तियों में उन्होंने स्वयं की वर्णी उल्लिखित किया है इसका तात्पर्य यह है कि वे बाल ब्रह्मचारी होने के साथ-साथ वर्ण यानी बीजाक्षर के धनी थे । शब्दों के अतुल भण्डर थे । वर्ण व्यवस्था के पोषक थे चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की सुगठितता, परस्पर में सद्भावना के समर्थक थे । यथा -

न वर्णलोपः प्रकृतेर्न भङ्गः कुतोऽपि न प्रत्ययवत् प्रसङ्ग ।
यत्र स्वतो वा गुण वृद्धिसिद्धिः प्राप्ता यदीयापदुरीति ऋद्धिम् ॥

(जयोदय प्रथम सर्ग-24)

जयोदय के प्रथम सर्ग के श्लोक 24, 31, 48 में एवं स्वोपज्ञ टीका में यह भाव व्यक्त किया गया है । वर्णी का अर्थ रंगवाले अर्थात् रंगीली प्रकृति युक्त भी है । यद्यपि उन्होंने शृङ्गार रस का भी चरम परिपाक अपने काव्य में कर अद्भुत काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है तथापि वह रंग ऊपर-ऊपर तैरता ही दृष्टिगत होता है। उनका अभिधेय तो वैराग्य ही है । वे वर्णी (रंगीले) होकर भी वर्णी (ब्रह्मचारी) थे, शील की मूर्त्ति थे । यह भी उनके अतिशयी व्यक्तित्व का गुण है । उन्होंने अपने मानव-जीवन के उत्कृष्ट संयम स्वरूप निर्ग्रन्थ श्रमणत्व की साधना को अपने जीवन में उतार कर अपने विरक्त अन्तःकरण को प्रकाशित किया था ।

उनका विशाल संस्कृत साहित्य वर्तमान विश्व का आश्चर्य ही है । श्री भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' की निम्न उक्ति इस सत्य की साक्षी है ।

"समष्टितः यह महाकाव्य (जयोदय) इस शताब्दी की सर्वश्रेष्ठ काव्य-कला का निदर्शन करती है ।" (जयोदय भूमिका)

यद्यपि उनका समग्र वाङ्मय (हिन्दी सहित) भवरोग हरण औषधि है तथापि संस्कृत भाषा में उनका जो व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है उससे वे सरस्वती साधकों के शिखर पर शोभायमान हैं । उनकी पच्चीस से अधिक कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं । उनकी लेखनी बहुआयामी है । विस्तार के भय से यहाँ कृतियों का परिचय नामादिक प्रस्तुत नहीं है । प्रस्तुत ग्रन्थ विषयक कृतियों का उल्लेख आगे करेंगे ।

3. नय निरूपण

पू. आचार्य ज्ञानसागरजी की कृतियों में नय विवक्षा का स्पष्टीकरण प्रायः दृष्टिगत किया जा सकता है । इसमें सन्देह नहीं कि तात्कालिक परिस्थितियाँ साहित्य पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहती । 1950 से 70 के दो दशकों में एकान्तवाद का प्रचार आचार्यश्री की दृष्टि में असंगत व श्रमण संस्कृति के लिए हानिकारक रूप में आ चुका था । निश्चयाभासी दृष्टिकोण अध्यात्म की छत्रच्छाया में प्रकट और प्रचारित किया जा रहा था । त्याग और तपस्या के छद्म विरोध को प्रकट रूप एवं दलीय रूप प्रदान किया जा रहा था । चारित्र, संयम एवं

क्रियाओं की उपेक्षा कर मात्र ज्ञान को मोक्षमार्ग घोषित किया जाने लगा था । अवृतियों को शुद्धोपयोगी एवं मुनिवर्ग को द्रव्यलिंगी घोषित कर नये-नये पाठ्यक्रम, प्रवचन, ग्रन्थों में मिलावट आदि का दुरारम्भ हो रहा था । स्याद्वाद और अनेकान्त की मिथ्या परिभाषायें व्याख्यायित की जाने लगी थी । पुण्य को हेय एवं व्यवहार को सर्वथा हेय कह कर समाज के भोले लोगों को दिग्भ्रमित किया जा रहा था । निमित्त को अकिंचित्कर निरूपित कर सर्वथा उपादान के ही गीत गाये जाने लगे थे । अव्रतियों को मात्र मिथ्या प्रवचनपटुता के एवं प्रलोभन के चमत्कार में सद्ग्रह भाषित किया जाने लगा था । तप की निरर्थकता, शुभक्रियाओं, पूजा, दान आदि की निष्फलता सिद्ध की जाने लगी थी । यह परिस्थिति आचार्य ज्ञानसागरजी की दृष्टि में भली-भाँति आ गई थी । उन्हें समाज के प्रति वात्सल्य था । समाज के हित चिन्तन की भूमिका में एवं अपनी मर्मान्तिक वेदना को अनिवार्य रूप में प्रकट करने की उपादेयता के परिवेश में उन्होंने अपने साहित्य में प्रवचनों में एकान्तवाद का निरसन किया। नय विवक्षाओं का निरूपण इसी का परिणाम है । सम्यक्त्वसार शतक, प्रवचनसार प्रतिरूपक/समयसार प्रवचन, सुदर्शनोदय, जयोदय आदि में बड़े ही प्रभावक, कलात्मक एवं रुचिपूर्ण रूप में नयों का निरूपण उन्होंने किया है । उनका मार्गदर्शन सदैव समाज को दिशाबोध कराता रहेगा । वे हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनका वाङ्मय मणिमय प्रकाशस्तम्भ की भांति हमें मार्ग दिखायेगा । उनकी शिष्य-प्रशिष्या मण्डली ने प. पू. आचार्य विद्यासागरजी के कुशल नेतृत्व में एकान्तवाद का निरसन करने में सफलता प्राप्त की है । प्रस्तुत प्रबन्ध में आचार्य ज्ञानसागरजी के निश्चय एवं व्यवहार नय निरूपण द्वारा अनेकान्त सिद्धि एवं तत्संबंधी आवश्यक विषय प्रस्तुत करने का प्रयत्न रहेगा । पाठकों को उनके नय विषयक निरूपण एवं अनेकान्त सिद्धि को सम्यक् हृदयंगम करने हेतु जिनागम में वर्णित निश्चय-व्यवहार स्वरूप पर यहाँ विस्तार से प्रकाश डालना अपेक्षित है ।

4. निश्चय - व्यवहार नय

निश्चय-व्यवहार नय के स्वरूप अवबोध हेतु प्रमाण-नय की चर्चा की जाती है । आत्म-स्वरूप को सुखमय बनाने के लिए उसके परिज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है । ज्ञान की उपलब्धि प्रमाण और नयों से होती है । कहा भी है -

"प्रमाणनयैरधिगमः" । (तत्त्वार्थ)

ज्ञान की समीचीनता का नाम ही प्रमाण है । ('सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं') । प्रमाण के अंशों को नय कहते हैं । यथा -

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी द्रर्णयस्तन्निराकृति ॥1॥

- अनेक रूपवाले पदार्थ के सम्पूर्ण ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और उसके अंश ज्ञान को नय । यह वस्तुगत विरोधी धर्म का वर्णन करने वाले नय का आपेक्षी है । उसका निराकरण करनेवाले/वाला नय दुर्नय है ।

सारांश यह है कि ज्ञान की समीचीनता, चाहे वह समग्र रूप में हो अथवा आंशिक रूप में, वस्तुस्वरूप को समझने का उपाय है । 'नयनीति नयः' अर्थात् जो किसी एक लक्ष्य पर पहुँचाता है, ले जाता है वह नय है । यदि लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है तो नयों की आवश्यकता है । इस प्रकार नयों के दो काम ज्ञात होते हैं । एक तो ज्ञान में सहायक होना, दूसरा अग्रसर कराना । अन्य शब्दों में क्रिया या गतिशीलता के सम्मुख ज्ञान के सभी साधनों को नय कहा जा सकता है । वे सभी सम्यक् रूप में स्वीकार्य हैं ।

अनेकान्त जैनदर्शन का प्राण है । कहा भी है,

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलासितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।2।।

(पुरुषार्थसिद्धियुपाय)

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है । उन धर्मों (स्वभाव, पार्श्व) को विभिन्न दृष्टियों से ही जाना जा सकता है किसी एक से नहीं । इन्हीं दृष्टियों को नय कहते हैं । पदार्थ की यथार्थता के सफल अवबोधक होने से सभी नय सार्थ है ।

किसी अपेक्षा से आगम और अध्यात्म इन दो रूपों में श्रुतज्ञान को विभक्त किया गया है, अलग-अलग दो श्रुतज्ञान हों और निरपेक्ष हों ऐसा नहीं है । दोनों का हर काल में सहयोगी निरूपण है । इसीलिए आगमिक नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा आध्यात्मिक नय निश्चय और व्यवहार ३६ की संख्या के अंक ३ और ६ के समान विपरीत दिशान्मुख न होकर ६३ के पद में परस्पर सहयोगाकांक्षी के रूप में व्यवस्थित हैं । किसी अपेक्षा से आगम वर्णित द्रव्यार्थिक नय को निश्चय नय और पर्यायार्थिक नय को व्यवहार नय कह सकते हैं । आचार्यों ने अध्यात्म ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर निश्चय और व्यवहार इन दो नयों का नाम लेकर प्रयोग किया है । अपेक्षा को स्पष्ट करना उनकी दृष्टि में सर्वत्र उपयोगी रहा है ताकि पाठक को भ्रम अथवा छल न हो । यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आगम में द्रव्यार्थिक नय को व्यवहार भी कहा गया है ।

5. परिभाषायें - निश्चय - व्यवहार

परिभाषायें – यहाँ कतिपय परिभाषायें प्रस्तुत की जाती हैं -

निश्चय नय :

1. **"निश्चिनेयति निश्चयतेऽनेन वा इति निश्चयः ।"** जो तत्त्व का निश्चय कराता है, तत्त्व परिचय निर्णय कराता है अथवा जिससे अर्थावधारण किया जाता है वह निश्चय नय है।
2. **"निश्चय नय एवम्भूतः ॥"** निश्चय एवम्भूत है । (श्लोकवार्तिक - 7)
3. **"परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चयः ।"** (प्रव. सा. ता. वृ. 93)

4. "**अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः** ।" जो अभेद और अनुपचार से वस्तु का निश्चय कराता है वह निश्चय है । (आलापद्धति - 9)

5. "**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।**
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥" (समयप्राभृत)

- जो आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष (सामान्य) और असंयुक्त देखता है वह शुद्धनय (शुद्ध निश्चय नय) जानना चाहिए । निश्चय के दो भेद हैं, 1 - शुद्ध और अशुद्ध निश्चय नय । आगम वर्णित शुद्ध द्रव्यार्थिक (परमभावग्राही) को शुद्ध निश्चय अध्यात्म में निरूपित किया है ।

6. "**आत्माश्रितो निश्चयोनयः**"। आत्मा ही जिसका आश्रय है वह निश्चय नय है । (समयसार, आत्मख्याति - 272) अन्यत्र भी "स्वाश्रितो निश्चयः" कहा गया है ।

7. "**अभिन्नकर्त्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः**"।। कर्त्ता, कर्म, क्रिया आदि को अभिन्न एक विषय करनेवाला निश्चय नय है" ।
(तत्त्वानुशासन / 59, अनगार धर्मामृत / 1/102)

व्यवहार नय

1. "**पाडिरूवं-पुण वयणत्थणिच्छयो तस्स ववहारो** ।" वस्तु के प्रत्येक भेद के प्रति शब्द का निश्चय करना व्यवहार नय है । (धवला 1/1)

2. "**संग्रहनयक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहार** ।" संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहार है । (सर्वार्थसिद्धि 1/33) जहाँ तर भेद संभव है वहाँ तक इसकी प्रवृत्ति है ।

3. "**भेदोपचाराभ्यां व्यवहरतीति व्यवहारः** ।" जो बेद और उपचार से व्यवहार करता है वह व्यवहार है । वस्तु रूप से भेद होने पर भी जो अभेद, एकत्व का ग्राही है वह उपचार है।

4. "**जो सियमेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स** ।" जो मणियों व्यवहारो ...... एक अभेद वस्तु में जो धर्मों का अर्थात् गुण और पर्यायों का भेदरूप उपचार करता है वह व्यवहार नय कहा जाता है ।

5. "**पराश्रितो व्यवहारः** ।" पर पदार्थ के आश्रित कथन करना व्यवहार है ।
(समयप्राभृत - आत्मख्याति - 272)

6. "**व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थो न परमार्थः** ।" स यथा "गुणगुणिनो सदभेदे भेदकरणं स्यात् ।" विधिपूर्वक भेद करने का नाम व्यवहार है । यह इस निरुक्ति द्वारा किया गया शब्दार्थ है - परमार्थ नहीं । जैसा कि यहाँ पर गुण और गुणी में सत् रूप से अभेद होने पर भी जो भेद करता है व्यवहार नय है ।
(पञ्चाध्यायी / पू. / 522)

7. **"व्यवहारनयो भिन्नकर्त्तृकर्मादिगोचरः ।"** व्यवहार नय भिन्न कर्त्ता विषयक है ।

8. **"जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो ।"** (छहढाला)

उपरोक्त परिभाषायें निश्चय और व्यवहार के विस्तृत स्वरूप को समझने में सहायक होंगी । इन नयों की परिभाषायें अध्यात्म में बहुलता से प्राप्त होती है । सभी सापेक्ष रूप में ग्रहणीय है । पं. पू. आ. ज्ञानसागरजी के नय-निरूपण के हार्द एवं महत्व को हृदयंगम करने हेतु यहाँ दोनों नयों पर दृष्टिपात अपेक्षित है । विस्तार के भय से संक्षिप्त रूप में कुछ ही लिखा जाता है ।

6. निश्चय नय

जिससे मूल पदार्थ का निश्चय किया जाता है वह निश्चय नय है । यह नय वस्तु के मूल तत्त्व को देखता है । यद्यपि पर-पदार्थों का सम्बन्ध भी वास्तविक है तथापि यह उसको दृष्टिगत नहीं करता है एक्स-रे के फोटो की भाँति । जैसे आत्मा और पुद्गल संसार में मिले हुए द्रव्य हैं परन्तु यह नय शरीरादि पर-द्रव्यों को पृथक् ही मानते हुए केवल द्रव्य की आत्मा को ही ग्रहण करता है । पर्यायों पर दृष्टि ही नहीं डालता है । आगम भाषा का द्रव्यार्थिक नय अपेक्षा दृष्टि से निश्चय नय माना जा सकता है किन्तु पूर्णतया दोनों का स्वरूप एक नहीं है, क्योंकि वहाँ व्यवहार को भी द्रव्यार्थिक कहा है । निश्चय नय दो प्रकार का है 1. शुद्ध निश्चय नय, 2. अशुद्ध निश्चय नय । शुद्ध द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह शुद्ध निश्चय नय है । अशुद्ध द्रव्य जिसका प्रयोगलक्ष्य है वह अशुद्ध निश्चय नय कहलाता है । आगम भाषा में जिसे कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कह सकते हैं । वृहद् द्रव्य संग्रह में उपरोक्त दोनों नयों का प्रयोग दृष्टव्य हैं :-

"पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥8॥

यहाँ अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा को चेतन परिणाम (भावकर्म राग-द्वेष) का कर्त्ता उल्लिखित किया है तथा शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध भावों का कर्त्ता बताया है । यद्यपि यहाँ स्पष्ट रूप से अशुद्ध निश्चय नय का नामोल्लेख नहीं है । तथापि शुद्ध नय से अन्य निश्चय नय निरूपित किया है वह नय अशुद्ध निश्चय नय ही संभावित है । टीका दृष्टव्य है ।

समयसार कलश में शुद्ध नय का लक्षण निम्न प्रकार किया है ।

आत्मस्वभावं परभावभिन्न – मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं ।
विलीन संकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥10॥

– आत्मस्वभाव को परभावों से भिन्न, आपूर्ण, आदि-अन्त से रहित, एकरूप तथा संकल्प-विकल्प जाल से रहित प्रकाशित करता हुआ शुद्ध (निश्चय) नय उदय को प्राप्त होता है ।

आ. अमृतचन्द्रजी ने निश्चय नय से अपने भावरूप परिणमन करनेवाले को कर्त्ता कहा है -

यः परिणमति स कर्त्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥51॥ कलश

आशय है कि कर्त्ता-कर्म-क्रिया तीनों एक वस्तु रूप हैं। जीव राग-द्वेष का भी परिणमन करने से कर्त्ता है तथा शुद्ध वीतराग भाव का भी । दोनों प्रकार के भावों का कर्त्ता एक नय से नहीं हो सकता । दो नय चाहिए । वे दोनों ही निश्चय नय हैं । दोनों के विषय विरुद्ध हैं । अतः वे शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय ही हो सकते हैं ।

यतः जीव का परिणमन शुद्ध एवं अशुद्ध दोनों रूप से होता है अतः आचार्य की दृष्टि में दोनों को निश्चय नय के रूप में मान्यता प्राप्त है । आ. जयसेनजी ने तात्पर्यवृत्ति में स्पष्ट वर्णन किया भी है । परमार्थ की दृष्टि से अशुद्ध निश्चय नय भी व्यवहार ही है।

7. व्यवहार नय

ऊपर कह आये हैं कि जो भेद और उपचार से व्यवहार करता है वह व्यवहार नय है । साथ ही इसका विषय अनुपचार भी है जैसा कि इसके भेद-प्रभेदों से प्रकट है । गुण और गुणी में भेद करना इसका कार्य है तथा भेद में अभेद की सिद्धि करना (उपचार) भी इसका कार्य है । जैसे जीव और अजीव (पुद्गल) में भेद है किन्तु यह उनको एक कहता है यथा -

"**ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।**" (समयसार - 27)

- व्यवहार नय देह और जीव को एक कहता है ।

"पराश्रितो व्यवहारः" इस कथन के अनुसार यह नय पर के आश्रय से प्रवृत्ति करता है । परद्रव्यों द्रव्यकर्म, शरीर परिग्रहादि नोकर्म को तथा उनको सम्बन्ध से घटित कार्यों को जीव का मानता है । जीव कर्म करता है, जन्म-मरण करता है, संसारी है, मूर्तिक है, पौद्गलिक कर्मों का भोक्ता है, बद्ध है, स्पष्ट है आदि वर्णन करता है । इस नय को आगमभाषापेक्षया पर्यायार्थिक नय कहते हैं । यह द्रव्य को नहीं देखता, पर्याय को ही विषय करता है । इस नय को भी दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है । 1. स्वभाव व्यञ्जन पर्यायार्थिक नय, 2. विभाव व्यञ्जन पर्यायार्थिक नय ।

अन्य दृष्टि से व्यवहार के संक्षेप में निम्नांकित 4 भेद हैं -

1. **अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहार** – जैसे जीव के केवलज्ञान आदि गुण हैं ।
2. **उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहार** – जैसे जीव के मतिज्ञान आदि विभाव के गुण हैं ।
3. **अनुपचरित असद्भूत व्यवहार** – संश्लेषात्मक शरीरादि पदार्थ जीव के हैं ।
4. **उपचरित असद्भूत व्यवहार** – संश्लेष संबंध रहित पुत्र, मित्र; गृहादि जीव के हैं।

उपरोक्त प्रकार दोनों नयों पर अति संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है । सारांश यह है कि जीवादि पदार्थों के परिज्ञान के लिए प्रमाण और नयों की उपयोगिता है । जिस प्रकार हम किसी वस्तु को हर पहलु से घुमा-फिरा कर देखते हैं उसी प्रकार विभिन्न नयो (Points of view) या दृष्टिकोणों से समन्वित रूप से हमें प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानना आवश्यक है । वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अत: किसी एक ही नय के द्वारा उसका सर्वांगीण ज्ञान अशक्य है । हाँ 'अर्पितानर्पित सिद्धे:' इस वचन के अनुसार किसी नय को अमुक समय में मुख्य और किसी को गौण करना पड़ता है । नयों को चक्षु की उपमा दी गई है । जैसे नेत्र दो हैं वैसे ही मुख्य नय भी दो हैं । निश्चय (Principal point of view) और व्यवहार (Practical point of view) । पू. आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज अपने वाङ्मय में जिस नय कौशल, स्याद्वाद चातुर्य से एवं लोकहित की उदात्त भावना से प्रकट हुए हैं वह अत्यन्त प्रशंसनीय है, स्पृहणीय है । उन्होंने जिनज्ञानाम्बुधि में से अमूल्य नय-रत्नों को प्रकट करते हुए स्वयं ज्ञानसागर नाम को सार्थक किया है ।

8. आचार्यश्री की नय योजना

आचार्य ज्ञानसागरजी का साहित्य ऐसा दर्पण है जिसमें काल और क्षेत्र को दृष्टिगत कर नय सम्यक् समायोजित प्रतिबिम्बित होते हैं । उनका नय-विश्लेषण विशाल एवं बहुआयामी है । अध्यात्म के विविध प्रसंगों में यथास्थल नय सम्बन्धी भ्रान्तियों को निराकरण करने हेतु स्वयं भी शंका उठाकर समाधान किया है । 'सम्यक्त्वसारशतकम्' में नय निरूपण के प्रसंग में उपादान-निमित्त, कार्यकारण भाव आदि का बहुत हृदय स्पर्शी चित्रण है । वे पाठक को एकान्त के दुराग्रह से मुक्त कर अनेकान्त के समन्वित युक्तिसंगत परिवेश में प्रेरित करना चाहते हैं । पृष्ठ 11 दृष्टव्य है ।

शंका – जैनदर्शन में दो नय हैं, एक व्यवहार और दूसरा निश्चय । सो आप जो कुछ कह रहे हैं (उपादान-निमित्त दोनों का महत्त्व) वह व्यवहार नय का पक्ष है । व्यवहार नय में निमित्त जरूर है परन्तु कानजी ने जो कुछ कहा वह निश्चय नय से बतलाया है । निश्चय नय में तो कार्य अपने उपादान से ही होता है, क्योंकि निश्चय नय तो स्वाधीनता का वर्णन करनेवाला है, वह निमित्त की तरफ क्यों ध्यान दे, पराधीनता में क्यों जावे ।

समाधान – निश्चय नय से यदि कहा जावे तो वहाँ पहले तो कारण कार्यपन है ही नहीं, क्योंकि निश्चय नय तो सामान्य को ग्रहण करनेवाला है जहाँ कि न तो कोई चीज उत्पन्न ही होती है और न नष्ट ही, जैसा कि इस श्लोक में बतलाया है -

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
निश्चयात्किन्तु पर्यायनयात्तावपि वस्तुनि ॥

निश्चय नय से असत् पदार्थ का भाव अस्तित्व नहीं होता और न सत् पदार्थ का कभी अभाव होता है अर्थात् निश्चय नय की अपेक्षा न तो कोई चीज पैदा होती है और न नष्ट ही किन्तु पर्याय यानी व्यवहार नय की अपेक्षा तो वस्तु में दोनों हैं । भाव और अभाव।

हाँ, यदि निश्चय नय विशेष से भी कहा जावे तो यहाँ कारण कार्यपना माना जरूर है और वहाँ उपादान को ही कारण माना है निमित्त को नहीं, यह भी सही है क्योंकि उसकी (कानजी की) दृष्टि में निमित्त होता ही नहीं । वह नय तो अभिन्न को विषय करनेवाला है अतः उपादान को ही जानता है, जैसा द्रव्यसंग्रह में बताया है कि निश्चय नय से आत्मा अपने भावों का ही कर्त्ता है अर्थात् अभिन्न रूप में उसके भाव उससे ही होते हैं और से नहीं । सो ठीक ही है क्योंकि निमित्त भिन्न चीज है जिसको निश्चय नय देखता ही नहीं है । फिर यह कहना कैसा कि निश्चय नय में निमित्त होता तो है जरूर परन्तु कुछ करता नहीं है । निमित्त जो है सो व्यवहार नय का विषय है तो उसकी दृष्टि में वह कार्य का करनेवाला भी है ।''

''बस, तो इसी प्रकार (ऊपर उदाहरण प्रस्तुत किया था) सभी प्रकार का कार्य उपादान और निमित्त दोनों की समष्टि से बनता है । उसको निश्चय नय उपादान से बना कहता है और व्यवहार नय निमित्त से । सो यह तो ठीक है किन्तु उपादान से ही कार्य बना है निमित्त होकर भी कुछ नहीं करता यह तो अनभिज्ञता है ।'' (पृष्ठ 13)

''हे भव्य पुरुषों ! निश्चयैकान्त एक ऐसा गहन गृहीत मिथ्यात्व है कि जीव अपने आपको महान् आध्यात्मिक व बौद्धा समझता हुआ भी अमितकाल तक संसार सागर से पार नहीं हो सकता । पक्ष विशेष की गौणता-मुख्यता तो क्षश्य ही क्या श्लाघ्य भी है पर तिरस्करणीयता जिनागम व दिव्यध्वनि से वाह्य है ।

इतना कहने के पश्चात् भी जो कोई प्राणी अपना हठवाद न छोड़े तो उसका कल्याण अनन्त तीर्थंकर मिलकर भी नहीं कर सकते ।''

पू. आचार्य ज्ञानसागरजी का उपरोक्त कथ्य वर्तमान में भी कितना प्रासंगित है यह किसी से छिपा नहीं है । उनके हृदय में बड़ी पीड़ा थी कि दिगम्बर जैन समाज में यह निश्चय का गृहीत ज्वर बाहर से संक्रमित होकर समाज को विखंडित करने में लग गया है । उनके नय निरूपण की विशेषता है कि उक्त परिस्थिति का सर्वत्र ध्यान रखकर करुणाभाव से समाज को सम्यक् दिशा प्रदान की गई है । उन जैसे महान् मनीषियों के प्रयास का ही फल है कि अब एकान्त निश्चयाभास का अन्धेरा समाप्ति पर है ।

आचार्य ज्ञानसागरजी अगाध आगमज्ञान के धनी थे । संस्कृत, प्राकृत भाषाओं पर उनका स्पष्टतः अधिकार था । भाषा एवं शब्द, व्याकरण ज्ञान के बल से ही उन्होंने आध्यात्मिक एवं आगमिक ग्रन्थों को भली-भांति परिशीलन किया था । नय-विशारदता एवं विचक्षणता उनका विशेष गुण था । साहित्य संरचना में जिस स्थल पर उन्हें नय-विषयक स्पष्टीकरण की आवश्यकता अनुभव में आती उसकी पूर्ति करने में वे बड़े रुचिवान थे । उनकी नय योजना में श्रोता का हित सर्वोपरि दृष्टिगोचर होता है । निश्चय-व्यवहार विषयक चर्चा में कार्य-कारण एवं निमित्त उपादान का रहस्य भी उद्घाटित करना उनको आवश्यक प्रतीत हुआ करता था । उपादान-निमित्त की अति सुन्दर व्युत्पत्तियाँ उन्होंने प्रस्तुत की हैं, एक स्थल दृष्टव्य है । यथा -

उपादान – 'उप किलाभिन्नत्वेदानं धारणमधिकरणं तदुपादानं' अर्थात् अभिन्न रूप में एकमेक रूप में आदान अर्थात् धारण करना । अधिकरण आधार एवं अभिन्न रूप से एकमेक होते हुए जो प्राप्त करनेवाला हो वह उपादान होता है ।

निमित्त – "नियमेन मीयते अङ्गीक्रियते तन्निमित्तं सहायकं वस्तु । यानी निमित्त का अर्थ होता है सहयोग देनेवाला, सहायक, मददगार और जहाँ मदद की जाती है उसको नैमित्तिक कहते हैं ।" (सम्यक्त्वसार शतक, पृ. 15)

9. नय-स्वरूप वर्णन

आचार्य ज्ञानसागरजी ने नयों के स्वरूप का वर्णन आर्ष सम्मत एवं संस्कृत और हिन्दी गद्य-पद्य दोनों में यथा स्थान बड़ी सुबोध शैली में किया है ।

प्रवचनसार का संस्कृत श्लोकों में और हिन्दी पद्य-गद्य (स्वोपज्ञ हिन्दी टीका) में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का वर्णन करते हुए (गाथा 19-20) में लिखते हैं -

"द्रव्यार्थपर्याभ्यां नयाभ्यामिति वस्तुनि ।
उत्पत्तिः सन्मयी यद्वा लक्ष्यतेऽसावसन्मयी ॥19॥

(आचार्य ज्ञानसागरजी)

सारांश – साधारण विचारधारा को सामान्य दृष्टि या द्रव्यार्थिक नय कहते हैं । और असाधारण विचारधारा को विशिष्ट दृष्टि या पर्यायार्थिक नय कहते हैं । द्रव्यार्थिक नय से देखने पर वस्तु जो पहले थी वही अब भी है और आगे भी रहेगी किन्तु पर्यायार्थिक नय से देखने पर वस्तु जैसी पहले थी वैसी अब नहीं है और यही है एवं आगे भी कुछ और ही हो जावेगी ।"

समयसार का पद्यानुवाद हिन्दी में आचार्य ज्ञानसागरजी ने 'विवेकोदय' नाम से किया है एवं वहाँ विशेषार्थ स्पष्टीकरण के रूप में किया गया है । वे सामान्य रूप से सुपाच्य शैली में गाथा नं. 11 की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, (पृष्ठ 11) "आचार्य देव ने समयसारजी की इस ग्यारहवीं गाथा में निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ बतालाया है। "भूतः स एवार्थः प्रयोजनं यस्य स भूतार्थो निश्चयनयः सामान्यविषयः द्रव्यार्थिक इति । अभूतोऽपूर्व एव वर्तमानोऽर्थः प्रयोजनं यस्य सोऽभूतार्थो पर्यायार्थिको विशेषविषयो व्यवहारनय इति ।" (नवीन विशद व्युत्पत्ति) अर्थात् हर एक ही वस्तु में एक सामान्य और दूसरा विशेष दो धर्म होते हैं वस्तु उन दोनों प्रकार के धर्मों का आधार होती है । .... इनमें सामान्य को विषय करनेवाला तो निश्चय नय है..... परन्तु व्यवहार नय की निगाह वस्तु के नयेपन पर जाती है वह वस्तु के अन्दर पर-संयोगादि के द्वारा जो बिगाड़ सुधार होता है उसको बतलाता रहता है । अब व्यवहार नय को मानकर एवं उसके द्वारा निर्दिष्ट अपने आप में होने वाले विकार को दूर हटाकर जो आदमी निश्चय नय के द्वारा निर्दिष्ट अपने निर्विकार स्वरूप को प्राप्त करता है वही सम्यग्दृष्टि सच्चा है, भला है यही 'भूतार्थं श्रयित्वा खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः' इसका मतलब है प्रत्युत अपने आप में वर्तमान होते हुए भी विकार को न मानकर

अपने को निर्विकार कहने वाला जो है वह तो घोर मिथ्यादृष्टि है बिल्कुल झूठा है (आगे उदाहरण) ..... बस, यही निश्चय और व्यवहार का हाल है । (उदाहरणानुसार) निश्चय नय पिता की तरह है और व्यवहार नय मित्र की तरह । दोनों ही अपने विचार में सच्चे हैं न कि एक सच्चा और दूसरा झूठा । हाँ, निश्चय की दृष्टि से व्यवहार अगर गलती पर है (झूठा है) तो व्यवहार की दृष्टि में निश्चय भी झूठा है । श्री आचार्य महाराज (कुन्दकुन्द स्वामी) ने तो जगह-जगह दोनों को ही अपने-अपने विषय में उपयोगी बताया है एवं दोनों के कार्य को संक्षेप में हम यहाँ बता रहे हैं -

निश्चय नय	व्यवहार नय
1. द्रव्यार्थिक है ।	1. पर्यायार्थिक होता है ।
2. सामान्य को विषय करता है ।	2. विशेष का कथन करनेवाला है ।
3. अभेद स्थापन करता है अत: एक है ।	3. भेद दिखलाता रहता है, अनेक है ।
4. मूक है गूँगा है ।	4. बोलनेवाला है निश्चय के स्वरूप को भी व्यवहार ही बतलाया करता है और अपने आप को भी ।
5. प्रतिषेधक है क्योंकि व्यवहार के बाद में आता है और उसके प्राप्त होने पर व्यवहार नहीं रहता ।	5. प्रतिषेध्य है निश्चय के नीचे होकर रहता है (अर्थात् नीचे यानी पूर्वावस्था में होता है ऊपर यानी बाद में नहीं)
6. राजा की तरह सम्हालनेवाला है ।	6. मंत्री की भाँति कर्मकार है ।
7. तादात्म्य को देकर उपादान पर दृष्टि रखते हुए पारिणामिकभाव का ग्राहक होता है ।	7. निमित्त को प्रधानता देते हुए संयोग से होनेवाले औदयिकादि भावों का अपनाने वाला है ।

उपरोक्त प्रकार जो विवेचना आचार्य ज्ञानसागरजी ने की है एवं जो दोनों नयों के कार्य को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया है वह उनके गम्भीर नय ज्ञान का द्योतक है। वे अध्यात्म के मूर्धन्य शिरोमणि रूप में प्रकट होते हैं । आगम-समुद्र के नय प्रमाण रूप रत्नों के वे पारखी हैं । ऊपर उन्होंने निश्चय नय को मूक कहा है वह भी ठीक ही है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयप्राभृत की गाथा नं. 12 में यह भाव प्रकट किया है -

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परम भावदरिसीहिं ।
ववहारदोसिदा पुण जे दु अपर में ट्ठिदा भावे ।।14।। ता. वृ.

- शुद्ध द्रव्य जिसका प्रयोजन है ऐसा शुद्ध नय (निश्चय नय) परमभाव दर्शियों के द्वारा जानने योग्य है किन्तु जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं उनको व्यवहार नय का उपदेश देना चाहिए । यहाँ व्यवहार तो कथनात्मक कहा है किन्तु निश्चय नय को जानने योग्य (गूंगा) कहा है । वस्तुत: निश्चय नय के जबान नहीं हैं । हाँ, अन्तरंग चिन्तन स्वानुभव हेतु होता है शुद्ध आत्मानुभव को प्रकट कर प्रकाशित कर वह भी पलायन कर जाता है । देखिये, पूर्व उद्धृत कलश -

आत्मस्वभावं परभावभिन्नं आपूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं
विलीन संकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥10॥

समयसार कलश

– आत्मस्वभाव को परभावों से भिन्न, आपूर्ण, आदि-अंत रहित, एक (अभेद) संकल्प-विकल्प जाल से रहित प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय अभ्युदय को प्राप्त होता है । यहाँ ज्ञातव्य है कि शुद्धनय बोलता नहीं है किन्तु विकल्प सहित चिन्तन सहित है । विशेषता यह है कि वह आत्मा को निर्विकल्प अभेद स्वरूप प्रदान करने में सक्षम होता है । शुद्धात्मानुभव रूप समयसार है वह तो सभी नयपक्षों से अतिक्रान्त है । दृष्टव्य है, समयप्राभृत गाथाओं की एक-एक पंक्तियां ।

पक्खातिकंतो पुण भणिदो जो सो समयसारो ॥149॥
दोण्हणवि णयाणभणियं जाणदू णवरिं तु समयपडिबद्धो ॥150॥

"समयप्रतिबद्ध दोनों नयों से जानता है किसी नय पक्ष से ग्रसित नहीं होता । जो पक्षातिक्रान्त है वह समयसार है ।"

आचार्य ज्ञानसागरजी ने विषय संख्या नं. 3 के अन्तर्गत उल्लेख किया है कि निश्चय नय अभेद स्थापन करता है अत: एक है यह कथन उपरोक्त समयसार कलश के अनुसार ही समीचीन है । व्यवहार को भेददर्शक अनेक बताया है वह 'विधिपूर्वकभवहरण व्यवहार:' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध ही है ।

आचार्य ज्ञानसागरजी ने निश्चयनय को प्रतिषेधक और व्यवहार को प्रतिषेध्य बताया है । इसका आशय यह है कि व्यवहार नय निश्चय नय के द्वारा प्रतिषेध्य है, प्रमाण के द्वारा नहीं । क्योंकि प्रमाण के अवयव के रूप में दोनों मान्य हैं ("प्रमाणांशा नया उक्ता:") । निषेध का तात्पर्य विरोध नहीं है अपितु पूर्वापरता है । आचार्यश्री ने लिखा है कि पहले व्यवहार व बाद में निश्चय आता है । कहा भी है, "व्यवहारपूर्वको निश्चय: ।" प्रतिषेध्य होने पर भी व्यवहार निश्चय का साधक है, कहा भी है,

णो ववहारेण विणा णिच्छय सिद्धी कया वि णिद्दिट्ठा ।
साहणहेऊजम्हा तम्हा सो भणिय ववहारो ॥

– द्रव्यस्वभाव - प्रकाशक नय चक्र॥

– व्यवहार के बिना निश्चय की सिद्धि कदापि नहीं होती । निश्चय के साधन हेतु होने के कारण ही उसे व्यवहार संज्ञा प्राप्त है । आचार्य ज्ञानसागरजी ने लिखा है कि व्यवहार निश्चय के नीचे होकर रहता है उसका अभिप्राय यह है कि निचली अवस्था (पूर्व अवस्था) में होता है और निश्चय को उत्पन्न करता है । पूर्वदशा उत्तर-दशा के सापेक्ष ही तो होगी। बिना उत्तरदशा के पूर्व कहना भी तो नहीं बनता ।

आचार्य अमृतचन्द्रजी ने तो व्यवहार को निश्चय का बीज ही कहा है । पञ्चास्तिकाय की गाथा नं. 106 की टीका में निम्न पंक्तियां अवलोकनीय हैं,

"भावाणं पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यविकल्परूपं जीवाजीवद्रव्य जीवपुद्गल संयोग परिणामोत्पन्ना स्रवादिक पदार्थसप्तकं चेत्युक्त लक्षणानां भावानां जीवादिनवपदार्थानां । इदं तु नवपदार्थ विषयभूतं **व्यवहारसम्यक्त्वं** । किं विशिष्टं ? शुद्धजीवास्तिकायरुचिरूपस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य छद्मस्थावस्थायां साधकत्वेन बीजभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वं क्षायिकसम्यक्त्व **बीजभूतं** ।

आगे वे लिखते हैं, "अत्र यद्यपि साध्यसाधनभावज्ञापनार्थं निश्चयव्यवहारद्रवं व्याख्यातं तथापि नव पदार्थ विषयरूपस्य व्यवहार मोक्षमार्गस्यैव मुख्यत्वमिति भावार्थ: ।" अर्थ - यद्यपि यहाँ साध्यसाधन भाव के परिज्ञान के लिए निश्चय-व्यवहार द्वय का व्याख्यान किया तथापि नवपदार्थ जिसके विषय हैं वह व्यवहार मोक्षमार्ग मुख्य है । यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि साधनपूर्वक ही साध्य होता है । अत: आचार्य ज्ञानसागरजी ने व्यवहार को नीचे होकर रहना लिखा है उसका तात्पर्य महत्व की न्यूनता नहीं है अपितु निचली भूमिका, पूर्व अवस्था, साधनरूपता अथवा अपरम भाव से है ।

आचार्य महाराज ने निश्चय को राजा की भाँति सम्हालनेवाला तथा व्यवहार को मन्त्री की भांति कर्मकर कहा है यह कथन भी संगत ही हैं । क्योंकि मन्त्री सहायक के रूप में राजा का कार्य करता ही है । व्यवहार नय की दृष्टि में सारी हलचल होती है । उदाहरणार्थ व्यवहार मोक्षमार्ग मन-वाणी-शरीर की प्रवृत्ति रूप ही तो है। अट्ठाईस मूलगुण पालन, व्रत, समिति ग्रन्थ पठन, तीर्थयात्रा, जाप्य आदि सब आत्मा के अभेद अनुभव के लिए ही है । आत्मानुभव रूप राज्य की सम्हाल ही तो निश्चय नय रूपी राजा का विषय है । मोक्षमार्ग का प्रवृत्ति रूप कार्य व्यवहार रूपी मंत्री का है । जैसे बिना मंत्री के राज्य का अस्तित्व नहीं है वैसे ही बिना व्यवहार के निश्चय का सद्भाव नहीं है ।

आचार्य ज्ञानसागरजी ने निश्चय नय को द्रव्यार्थिक एवं सामान्यग्राही तथा व्यवहार को पर्यायार्थिक और विशेष का कथन करने वाला उल्लिखित किया है इसकी पुष्टि हेतु निश्चय-व्यवहार की पूर्व में लिखित आगमोक्त परिभाषायें दृष्टव्य हैं । द्रव्य और सामान्यग्राही का सारांश यह है कि यह द्रव्य के मूल और सदाकाल स्थायी अंतस्तत्व को विषय करता है जैसे कि एक्स-रे का फोटो । शरीर के बाहरी अवयव बाल, खाल, अस्थि, वर्ण, आकार, बाह्य इन्द्रियों को न ग्रहण कर मात्र अन्तरंग का चित्रण ही एक्स-रे का कार्य है उसी प्रकार शरीर, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कर्मबन्ध, जन्म-मरण आदि से परे जो आत्मा सामान्य का दर्शन करता है वह निश्चय नय है । इसी दृष्टि में तो पर्याय अथवा विशेष है ही नहीं । व्यवहार नय स्टुडियो के फोटो के समान कार्यकर है । चेहरा / मोहरा आदि बाहरी रूप को जैसे विशेष विशेषकर चित्रण करता है इसी प्रकार ही व्यवहार नय जीव को शरीर रूप कर्त्ता, भोक्ता, गोरा, काला, मनुष्य, दु:खी, सुखी, जन्म-मरण, शील आदि अने पर्यायों सहित उसी रूप में देखता है । कहा भी है -

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ।।स. प्रा. 32।।

- व्यवहार नय जीव और शरीर को एक कहता है परन्तु निश्चय नय की दृष्टि में जीव और शरीर कभी भी एक नहीं है ।

आचार्य ज्ञानसागरजी ने निश्चय नय को तादात्म्य परिणति एवं उपादान का ग्राहक लिखा है यह युक्ति संगत होने के साथ आगम सम्मत भी है । आचार्य अमृतचन्द्रजी ने भी निश्चय नय से तादात्म्य को लेकर ही जीव की कर्त्ता-कर्म-क्रिया का निरूपण किया है-

यः परिणमति स कर्त्ता यः परिणामों भवेन्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ।।कलश 51।।

निश्चय नय संयोग को स्वीकार नहीं करता । अतः वह तो उपादान के परिणामिक भाव का ही तो ग्राहक होगा । अशुद्ध पारिणामिक भाव को ग्रहण करनेवाला अशुद्ध निश्चय नय एवं शुद्ध पारिणामिक का ग्राहक शुद्ध निश्चय नय है ।

व्यवहार नय भिन्न कर्त्ताकर्म भाव को स्वीकार करता है वह निमित्त को प्रधान कर संयोगी भावों को जीव का मानकर चलता है । उदाहरणार्थ - तीर्थंकर जिनवाणी के कर्त्ता हैं, कुम्भकार घड़े का कर्त्ता है आदि । जीव कर्म से बंधा है, राज्य करता है, इन्द्रियों से जानता है आदि । यह रूप आचार्य ज्ञानसागरजी ने व्यवहार के कार्य को बताते हुए प्रस्तुत किया है वह समीचीन है ।

10. नय प्रयोग कौशल

आ. ज्ञानसागरजी न्याय विषयक विशाल समन्वित दृष्टि को अनेकान्त परिवेश में प्रकट करने के अभ्यासी थे । विविध सिद्धान्त प्रसंगों के साथ ही कथा प्रसंगों में भी उन्होंने अनेकान्त के दर्शन कर यथावसर उसे प्रस्तुत किया है । सुदर्शनोदय में पृष्ठ 91 पर उन्होंने विशिष्ट रागमय 4 छन्दों में अनेकान्त की सिद्धि कथा पात्र सखियों के वार्त्तालाप के माध्यम से की है । ये चार श्लोक वस्तुतः एक दर्पण की भाँति सोदाहरण अनेकान्त को सम्यब प्रति विम्बित करते हैं । विस्तार भय से मात्र अन्तिम छन्द यहाँ उद्‌धृत करता हूँ । हाँ, उनका हिन्दी अनुवाद पूरा लिखूँगा ।

एवमनन्तधर्मता विलसति सर्वतोऽपि तन्त्वस्य ।
भूरास्तां खलतायास्तस्मादभिमतिरेकान्तस्य ।।
प्रसिद्धा न तु विबुधस्य सिद्धिरनेकान्तस्य ।।4।।

"हे सखि, देख अनेक धर्मात्मक वस्तु की सिद्धि स्वयंसिद्ध है अर्थात् कोई भी कथन सर्वथा एकान्त रूप सत्य नहीं है । प्रत्येक उत्सर्ग मार्ग के साथ अपवाद मार्ग का भी विधान पाया जाता है । इसलिए दोनों मार्गों से ही अनेकान्त रूप तत्त्व की सिद्धि होती है । देख एक वेश्या से उत्पन्न हुए पुत्र-पुत्री कालान्तर में स्त्री-पुरुष बन गये । पुनः उनसे उत्पन्न हुआ पुत्र उसी वेश्या के वश में हो गया अर्थात् अपने बाप की माँ से रमने लगा । इस अठारह नाते की कथा में पिता के ही पुत्रपना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है । फिर

किस मनुष्य का किसके साथ तत्त्व रूप से सच्चा सम्बन्ध माना जाय । इसलिए मैं कहती हूँ कि अनेकान्त की सिद्धि अपने आप प्रकट है । बाजार में जब वस्तु सस्ती मिलती है व्यापारी उसे खरीद लेता है और जब वह महंगी हो जाती है तब ग्राहक के मिलने पर अवश्य उसे बेच देता है यही व्यापारी का कार्य है । इसलिए एक नियम पर बैठकर नहीं रहा जाता है । सखि अनेकान्त की सिद्धि तो सुतरां सिद्ध है और देख - जीर्ण ज्वरवाले पुरुष की दूध में अतिसारवाले पुरुष की दही में और रोग रहित भूखे मनुष्य की दोनों में रुचि का होना उचित ही है किन्तु उपवास करनेवाले पुरुष की उन दोनों में से किसी पर भी रूचि नहीं मानी जा सकती । इसलिए मैं कहती हूँ कि सखि, एकान्त से वस्तु तत्त्व की सिद्धि नहीं होती किन्तु अनेकान्त से ही होती है । उपरोक्त (छन्द) श्लोक नं. 4 का अर्थ - इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व की अनन्तधर्मता प्रमाण से भली-भाँति सिद्ध होकर विलसित हो रही है । इसलिए एकान्त को मानना तो मूर्खता का स्थान है । विद्वज्जन को ऐसी एकान्तवादिता स्वीकार करने के योग्य नहीं है । किन्तु अनेकान्तवादिता को ही स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि अनेकान्तवाद की सिद्धि प्रमाण से सिद्ध है ।''

उपरोक्त प्रसंग में आ. ज्ञानसागरजी की नय-प्रमाण निरूपण कला के सुण्दु दर्शन होते हैं । वे आगम के 'सिद्धिरनेकान्तात्' और 'अनेकान्तस्तावत् प्रमाणं' सूत्रों को ही पल्लवित करने हेतु सटीक उदाहरण प्रस्तुत करने में सिद्ध हस्त थे ।

ज्ञान प्रवृत्ति (कार्य) विषयक भ्रान्तियों के निवारणार्थ आ. श्री ने अपने वाङ्मय में अच्छा स्पष्टीकरण किया है । किन्हीं व्यक्तियों, जो निश्चयैकान्त के ज्वर से पीड़ित हैं, की ऐसी धारणा है कि ज्ञान सिर्फ अपनी आत्मा को जानता है पर को नहीं । यह बात आ. ज्ञानसागरजी के ज्ञान में थी तभी उन्होंने निम्न शंका स्वयं उपस्थित कर समाधान किया है दिशाबोध कराया है । - सम्यक्त्वसार शतकम्, पृ.-153

शंका - ठीक तो है इसीलिए तो हमारे आचार्यों ने बतलाया है कि निश्चय नय से तो ज्ञान सिर्फ अपनी आत्मा को जानता है पर-पदार्थों को जाननेवाला तो व्यवहारमात्र से होता है और व्यवहार का अर्थ झूठा होता है ।

उत्तर (समाधान) - भैयाजी, जो पर को नहीं जानता है, वह अपने आपको भी नहीं जान सकता है; क्योंकि मैं चेतन हूँ । जड़ नहीं हूँ, इस प्रकार अपना विधान परप्रतिषेधपूर्वक ही हुआ करता है । ज्ञान का स्वभाव जानना है, वह अपने आपको जानता है तो पर को भी जानता है । अपने आपको आपके रूप में अभिन्नता से ज्ञातृतया वा ज्ञानतया जानता है। पर-पदार्थों को पर के रूप में अपने से भिन्न अर्थात् ज्ञेयरूप जानता है । भिन्न रूप जानने का नाम व्यवहार एवं अभिन्न रूप जानने का नाम ही निश्चय है, किन्तु जानना दोनों ही बातों में समान है जो कि ज्ञान का धर्म है और वह सर्वज्ञ में पूर्णतया प्रस्फुट हो जाता है उसी की प्राप्ति के लिए यह सारा प्रयास है ।

उपरोक्त विवेचन के सम्बन्ध में कुन्दकुन्द स्वामी की प्रस्तुत गाथा दृष्टव्य है-

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवलीभगवं ।
केवलणाणी जाणदि णिच्छयदो चेव अप्पाणं ॥नियमसार 159॥

- केवली भगवान् व्यवहार नय से सबको जानते-देखते हैं और निश्चय नय से अपनी आत्मा को जानते हैं । आ. ज्ञानसागरजी का मन्तव्य इसी गाथा का अभिप्राय सूचित करता है । वस्तुस्थिति यह है कि अपने को जानना ही पर का जानना है । यहाँ संक्षेप में ज्ञातृ-क्रिया पर दृष्टिपात करते हैं ।

सम्यक्त्वसार शतकम् के उक्त प्रकरण से ठीक पूर्व पृष्ठ 153 पर ही आ. ज्ञानसागरजी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की मंगलाचरण रूप निम्न गाथा उद्धृत की है, एवं उसका स्पष्टीकरण भी दिया है । उसी के माध्यम से ज्ञातृक्रिया जानना अभीष्ट है ।

तज्जयतुं परमज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥1॥

वह केवलज्ञान रूप परम ज्योति विजयी हो जो समस्त द्रव्यों की सम्पूर्ण अनन्त पर्यायों के बराबर है । जैसे दर्पण में पदार्थ प्रतिबिम्ब होते हैं उसी प्रकार ज्ञान में सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं । ज्ञान-ज्ञेयाकार परिणमन करता है । प्रवचनसार के अनुसार ज्ञान में पदार्थों के आकार को ग्रसित करने की, पीने की शक्ति है और ज्ञेय पदार्थों में अपने आकार को ज्ञान में फैंकने की शक्ति है । ज्ञान का विषय होने की शक्ति है । यह स्वभाव से ही पदार्थों में प्रमेयत्व नाम का गुण कहा जाता है । जानने की क्रिया का मतलब ही पदार्थों को प्रतिबिम्ब या झलकाना है । आ. अमृतचन्द्रजी ने दर्पण की भांति ज्ञान-ज्योति का उल्लिखित किया है । जैसे दर्पण अपने स्थान पर रहता है उसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेयों में चलकर नहीं जाता। जैसे दर्पण के सम्मुख वस्तु उसमें झलकती है, उसी प्रकार पदार्थ ज्ञान में झलकते हैं । यह प्रतिविम्बन दर्पण या ज्ञान की स्वच्छता के कारण ही होता है । जैसे दर्पण अमुक पदार्थों के आकार परिणमन करते हुए भी उस पदार्थ रूप नहीं हो जाता उसी प्रकार ज्ञान भी ज्ञेयाकार परिणमन करते हुए ज्ञेय-पदार्थ रूप नहीं हो जाता ।

केवली भगवान निश्चय नय से अर्थात् तादात्म्य रूप से अपनी आत्मा को देखते जानते हैं । जिस अपनी आत्मा को वे जानते हैं वह समस्त ज्ञेयाकार रूप परिणत है क्योंकि ज्ञप्ति क्रिया का स्वरूप ही यह है । अतः समस्त ज्ञेयों को जानना सहज रूप में हो जाता है । जैसे जो दर्पण को देखता जानता है वह उसके प्रतिविम्बित अपनी आकृति को भी उसी समय देख रहा है । आकृति को देखना अवास्तविक नहीं है क्योंकि उसे देखकर ही धब्बें को छुडाता है । ठीक इसी तरह अपनी आत्मा को जानना जितना वास्तविक है उतनी ही वास्तविकता केवली की सर्वज्ञता है भले ही व्यवहार नय का विषय हो । चूंकि केवली पदार्थों को तदाकार प्रतिविम्बित करते हैं तद्रूप नहीं हो जाते हैं । पदार्थों से भिन्नतया हैं इसी हेतु इसे व्यवहार दृष्टि कहा गया है । अतः नियमसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने एक ही गाथा में आत्मज्ञता और सर्वज्ञता निरूपित की है वह वास्तविक है । ऊपर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने शंका के उत्तर में खुलासा किया है । उन्होंने यह भी निरूपित किया है कि जो पर को नहीं जानता वह अपने को नहीं जान सकता । इसके लिए तत्त्वार्थसार की यह उक्ति दृष्टव्य है -

इत्येतज्जीवतत्त्वं यंः श्रद्धत्ते वेत्युपेक्षते ।
शेष तत्त्वै समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥292॥

- जो शेष तत्वों, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर/निर्जरा और मोक्ष - इन छः के साथ अर्थात् इनको भी जानते हुए जीव तत्त्व की श्रद्धा करता है, उसको जानता है व विरक्त होता है वही निर्वाण का भाजन होता है । इससे स्पष्ट है कि अकेले आत्मज्ञान की संभावना मोक्षमार्ग में नहीं है एवं एक नय का एकान्त दुराग्रह आचार्य ज्ञानसागरजी के द्वारा निषिद्ध किया गया है । वस्तुतः ज्ञान की स्वपर प्रकाशकता व्यवहार और निश्चय दोनों नयों पर आधारित है । सम्पूर्ण जैन वाङ्मय ही दोनों नयों के सम्यक् सुमेल से आपूर्ण है कहा भी है, "उभय नयायत्ता हि पारमेश्वरी देशना ।" आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के वस्तु व्याख्यान में, नय निरूपण में निश्चय-व्यवहार की गौणता एवं मुख्यता तो पाई जाती है, निषेध नहीं। वे जिनमत का प्रचार करते हुए कहीं भी किसी नय को नहीं छोड़ते न पक्ष ही ग्रहण करते हैं । आचार्य अमृतचन्द्रजी ने आत्मख्याति में एक गाथा उद्धृत की है जो निम्न है -

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्चये मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण रण तज्जं ॥

॥गाथा 12 स. प्रा. टीका ॥

- यदि जिनमत का प्रचार (प्रवर्त्तन) चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों में से एक को भी मत छोड़ों क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप होगा और निश्चय के बिना तत्त्व का ।

आचार्य ज्ञानसागरजी तीर्थ और तत्त्व दोनों को साथ लेकर चलते हैं । उनके तीर्थ और तत्त्व की एकता उनके जीवन में ही परिलक्षित होती है । क्योंकि श्रमण ही व्यवहार मार्ग (तीर्थ) के द्वारा तत्त्व अर्थात् निश्चय की सिद्धि करता है । गृहस्थ परमार्थ निश्चय का श्रद्धालु तो है कि निश्चय का साधक नहीं है । आचार्य कुन्दकुन्द समयप्राभृत में कहते हैं ।

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टन्ति ।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥163॥

- निश्चयार्थ को छोड़कर विद्वान् (गृहस्थ) व्यवहार से प्रवर्त्तन करते हैं दूसरे अर्थ के अनुसार (ववहारे से ण अलग अंकित करने पर) विवेकी व्यवहार से प्रवर्त्तन (आचरण) नहीं करते । परमार्थ के आश्रित यतीश्वरों का ही कर्मक्षय होता है । अन्यत्र भी श्रमण को तो निश्चय और व्यवहार दोनों का अधिकरण कहा गया है । गृहस्थ तो व्यवहार के ही आश्रित है उसके लिए तो व्यवहार ही शरण हैं अर्थात् वह इसके द्वारा ही आत्म-कल्याण करता हुआ परम्परा से श्रमणत्व को प्राप्त कर मोक्षमार्ग का निश्चय रूप प्राप्त करता है। यदि गृहस्थ अवस्था में ही निश्चय, जिसे साक्षात् मोक्षमार्ग कहते हैं, प्राप्त हो जाय तो तीर्थंकरों को भी अनेक पूर्वजन्मों में व इस जन्म में श्रमणत्व अङ्गीकार करने की क्या आवश्यकता थी ।

प. पू. आचार्य ज्ञानसागरजी ने चारों अनुयोगों में ग्रन्थ रचना की है । प्राय: प्रत्येक ग्रन्थ में अनेकान्त एवं सभी नयों का सुमेल है । तथापि ग्रन्थ रचना विभिन्न मुख्य नयों की मुख्यता लिए हुए है । इसे निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है ।

दयोदय , जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, भद्रोदय, मुनि मनोरंजनाशीति, ऋषभावतार, भाग्योदय, गुणसुन्दर, वृत्तान्त - इन ग्रन्थों में उपचरित असद्भूत व्यवहार नय एवं अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की मुख्यता है ।

सम्यक्त्वसार शतकम्, तत्त्वार्थसूत्र टीका, सद्भूत व्यवहार नय की मुख्यता लिए हुए है । एवंविध ही विवेकोदय, समयसार प्रवचनसार प्रतिरूपक, निश्चय नय की मुख्यता लिए हैं । इनमें अशुद्ध निश्चय नय और शुद्ध निश्चय नय दोनों दृष्टियों का विवेचन है । अध्यात्म में अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार माना गया है । इन आध्यात्मिक रचनाओं में पाठक को सर्वत्र निश्चयैकान्त से सावधान किया गया है ।

देवागम स्तोत्र, नियमसार, अष्टपाहुड में सद्भूत व्यवहार नय की मुख्यता है । यद्यपि इनकी कृतियों को एक नय या दो नयों में बांधना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रत्येक वाक्य-समूह ही अनेकांत को लिए है फिर भी उपरोक्त वर्गीकरण मोटे रूप में ही मान्य है ।

यहाँ कतिपय ग्रन्थों को लेकर आ. ज्ञानसागरजी के नय विवरण को दृष्टिगत करना अभीष्ट होगा ।

11. विवेकोदय

यह आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की प्रसिद्ध कृति समयप्राभृत का पद्यानुवाद है । ग्रन्थ के विषय के अनुसार यह नय समुद्र ही है । पद्यों का स्वरूप तो गाथाओं के अनुरूप ही है जो कि कुन्दकुन्द स्वामी के मन्तव्य का सफल प्रकाशक है । पू. आ. ज्ञानसागरजी ने इसकी गद्य में भी विवेचना की है इसी विवेचना में उनकी नय दृष्टि अवलोकित की जा सकती है । कतिपय स्थल यहाँ उद्धृत कर उनके नय कौशल को समझना उपयुक्त रहेगा।

व्यवहार की उपयोगिता वर्णित करते हुए आ. पृष्ठ 12 पर लिखते हैं " .... व्यवहार में फँसे हुए संसारी जीवों को व्यवहार के द्वारा ही परमार्थ का उपदेश दिया जाता है जैसे कि सीढ़ियों द्वारा ही छत पर पहुँचा जाता है ऐसा गाथा नं. 8 में स्पष्ट लिखा है 'तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।' अर्थात् जो लोग निश्चय को ही उपयोगी मानकर व्यवहार की अवहेलना कर बैठते हैं व पूरे गलती पर हैं । हाँ, जो लोग सिर्फ व्यवहार को ही अपनाये रहते हों निश्चय की तरफ जिनका रुख ही न हो वे भी भूले हुए हैं ।" यहाँ आचार्यश्री की गवेषणा दोनों नयों की सार्थकता रूप उदाहरण सहित प्रस्तुत की गई है ।

व्यवहार श्रुतकेवली के माध्यम से व्यवहार की उपयोगिता निम्न में दृष्टव्य है-

"द्वादशांग का ज्ञाता होकर शुद्ध स्वात्मलवलीन बने ।
श्रुतकेवली उसे ही कहिए और ठौर मन नहीं सने ॥

और और बातों में जब तक लगा हुआ होवे उपयोग ।
ऐसी हालत में हे भाई कहो कहाँ निजात्म का भोग ॥10॥

- जो आदमी सकल श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान को प्राप्त होकर उसके द्वारा शुक्लध्यान रूप अवस्था को प्राप्त करता हुआ वह केवल अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव कर रहा हो उस समय वहाँ निश्चय (नय से) श्रुतकेवली है परन्तु वही द्वादशांग का ज्ञानी होकर भी जिस समय अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव रूप शुक्लध्यान में लग्न न होकर जीवाजीवादि सम्पूर्ण तत्त्वार्थों के जानने या अनुभव करने रूप धर्मध्यानमय होता है उस समय वह व्यवहार श्रुतकेवली कहलाता है । मतलब यह है कि इस पञ्चम काल के श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी वगैरह व्यवहार श्रुतकेवली थे क्योंकि साक्षात् शुक्लध्यान रूप स्वसंवेदन ज्ञान नहीं था किन्तु यथायोग्य धर्मध्यान था ऐसा ही समयसारजी की गाथा नं. 9 और 10 की टीका में श्री जयसेनाचार्यजी ने स्पष्ट लिखा है ।"

आ. कुन्दकुन्द स्वामी ने एतद्विषयक गाथा में कहा है कि -

भरहे दुक्खम काले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावट्ठिदं ण हु भण्णइ सो वि अण्णाणी ।।मोक्षपाहुड़ 76॥

- भरत क्षेत्र में दुःखमा काल में साधु के धर्मध्यान होता है (शुक्लध्यान नहीं), वह आत्मस्वभाव में स्थित है यह जो नहीं मानता वह अज्ञानी है । यहाँ यह बात स्पष्ट परिलक्षित है कि कुन्दकुन्द को साधु-पद की गरिमा बनाये रखना उसका सम्मान कराना अभीष्ट रहा था । साथ ही शास्त्र ज्ञान के समीचीन रूप को प्राप्त न कर भ्रम से अपने को शुद्ध उपयोगी, आत्मा का स्वसंवेदी, प्रत्यक्ष अनुभवी मान बैठने का निषेध किया है, देखिए -

को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणेज्ज रूवमिणं ।
पच्चक्ख मेवदिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टन्तो ॥217 समय प्राभृत॥

आचार्य ज्ञानसागरजी ने विवेकोदय के पद्य-7 का खुलासा करते हुए निश्चय नय का विषय शुद्धता और व्यवहार का विषय अशुद्धता के सद्भाव को स्पष्टरूप से प्रकट किया है ।

12. शुद्धाशुद्धत्व

"विकार है कर्मों के संयोग से परन्तु है आत्मा में ही । आत्मा खुद ही उस विकार रूप परिणत हो रहा है, अशुद्ध बना हुआ है और जब अशुद्धता है तब शुद्धता कहाँ । अशुद्धता और शुद्धता दोनों ही अवस्थायें हैं । .... इसी प्रकार जीव की शुद्धता और अशुद्धता का हिसाब है । अशुद्धता आत्मा के जीवत्व यानी चेतना गुण का राग-द्वेषरूप परिणाम है और शुद्धता वीतरागता रूप परिणमन एवं ये दोनों एक साथ नहीं हो सकतीं ।"

आचार्य ज्ञानसागरजी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे उन्होंने नय प्रमाण विषयक आगम का और अध्यात्म का गहन मन्थन किया था । वे निरन्तर शास्त्राभ्यास में निरत रहते थे उन्होंने उपरोक्त वर्णन करते समय कुन्दकुन्द के निम्न वाक्यों को हृदयंगम किया था -

कोहुवजुत्तो कोहो, माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥130 समयपाहुड॥

– क्रोध-मान-माया-लोभ से उपयुक्त आत्मा स्वयं उन्हीं रूप है अर्थात् विकृत अशुद्ध है; शुद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्य पर्याय से तन्मय होता है । ऐसा नहीं है कि रागद्वेषादि विकार पर्याय में हैं द्रव्य में नहीं । सम्पूर्ण विकार सुधार का आत्मा तो द्रव्य ही है । कहा भी है-

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति णिद्दिट्ठं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धमो मुणेदव्वो ।।प्रवचनसार–8।।
जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो ।।9।।

– जिस समय द्रव्य जिस रूप से (पर्याय से) परिणमन करता है उस समय वह उससे तन्मय होता है । जब जीव शुभरूप से या अशुभरूप से परिणमन करता है (अशुद्ध रूप से) उस समय वह स्वयं शुभ-अशुभ होता है और जब शुद्धरूप से परिणमता है तब शुद्ध होता है (पहले सदैव नहीं) क्योंकि यह परिणाम स्वभावी है । इसमें विभाव व स्वभाव दोनों परिणमन की शक्ति है ।

– इससे स्पष्ट है कि आचार्य ज्ञानसागरजी का मन्तव्य कितना आगमानुकूल एवं सामयिक है । कतिपयजन निश्चय के एकान्ती होकर अपने को सर्वथा शुद्ध मानते हैं उनका मत उन्हें निरसन करना पड़ा ।

आचार्य ज्ञानसागरजी की पैनी दृष्टि, समाज एवं साधुवर्ग के प्रति वात्सल्य का परिणाम रहा कि उन्होंने अपने वाङ्मय में कानजी मत को निश्चयैकान्त मान्यता का निरसन नय निरूपण की प्रत्येक विधा में किया है ।

नेपथ्य, कथ्य, पथ्य, सत्य, तथ्य, अपथ्य – अनन्तधर्मात्मक पदार्थ होने के कारण उसका सम्पूर्ण अस्तित्वस्वरूप नेपथ्य की भाँति अवर्णनीय है । शब्द उसकी सीमा को स्पर्श नहीं कर पाते । कहते जरूर हैं पर-पदार्थ का यथार्थ नहीं कहते । शब्द की परिधि से बाहर होने के कारण पदार्थ को नेपथ्य-गत कहना ठीक होगा । हाँ, उसका अनुभव हो सकता है उस अनुभव को व्यक्त करना एकांगी शब्द परिणति है । यह नय प्रयोग से संभव होता है । परस्पर विरोधी धर्मों को सापेक्षता से प्रकाशित करना अनेकांत है । आत्मतत्व भी एवंविध वर्णनीय है ।

आचार्य ज्ञानसागरजी का कथ्य अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण रूप से माता द्वारा परोसी गई थाली के पथ्य के समान हितकर है । उनके वाक्य अनुभव के वाक्य हैं । विवेकोदय क्या उनका समस्त वाङ्मय रोगहरण औषधि है । नय विषयक वर्णन से ज्ञात होता है कि वे व्यवहार नय को सत्य मानते हैं एवं निश्चय को तथ्य । व्यवहार के द्वारा वर्णितस्वरूप आकाश कुसुम के समान अस्तित्वहीन नहीं है उन्होंने ऊपर व्यवहार नय का विषयभूत विकार (अशुद्धता) को वास्तविक रूप से आत्मा में ही स्वीकार किया है । उन्होंने लिखा है कि गुणस्थान,

मार्गणास्थान आदि आत्मा में ही है। जैसे स्वर्णपाषाण में सोना होना सत्य है तथा स्वर्णपाषाण को भी सोना संज्ञा मिल जाती है परन्तु पाषाण को अलग कर जो शुद्ध स्वर्ण प्राप्त होता है तथ्य तो वही है। पदार्थ के सत्य और तथ्य यानी मूल रूप को कथन करनेवाले व्यवहार और निश्चय नय भी सत्य और तथ्य रूप से अंगीकार करने योग्य है। व्यवहार तो दूल्हे के साथ के यात्रियों को भी बारात कहता है और ठीक भी है; लोकमान्य है किन्तु निश्चय नय तो मात्र दूल्हे के गमन को ही वरयात्रा कहता है। आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के शब्दों में -

"वर्णादिगुणस्थान पर्यन्त भाव जिनका कि वर्णन समयसारजी की गाथा नं. 50 से 55 तक में किया हुआ है वे सब निश्चय नय की अपेक्षा में जीव के नहीं हैं, व्यवहार नय को लेकर ही वे जीव के माने गये हैं। मतलब यह है कि संसारी आत्मा के साथ में उन सबका अनादिकाल से क्षीर-नीर की भाँति सम्बन्ध विशेष हो रहा है। (सत्य के दर्शन) किन्तु जीव का आत्मभूत लक्षण तो उपयोग अर्थात् देखना-जानना ही है (तथ्य दर्शन)। " गाथा नं. 56 से 57 का यह भाव है। अब व्यवहार कैसे होता है सो बताते हैं -

"पथ को लुटता कहे पथिक को सुन करके जैसे।
कर्मभाव को जीवभाव बतलाया जाता है वैसे ॥
स्थूल दृष्टि से छद्मस्थों के लिए जिनेश्वर वाणी में।
फिर भी तिल से तैल जुदा होता विवेक की वाणी में ॥37॥

आचार्यश्री का अभिप्राय व्यवहार यानी संयोग रूप को सत्य के रूप में एवं तादात्म्य को तथ्य (हार्द) के रूप में स्वीकार करता है। निम्न पद्य भी दृष्टव्य है-

"एकेन्द्रियादि नाम जीव के नामकर्म के निमित्त से।
गुणस्थान भी मोहकर्म को लेकर होवे जीव विषै ॥
अतः शुद्धनय से न जीव के हो सकते हैं वे सब भी।
मतलब यह है कि पार इनसे होगा होगा वह शुद्ध तभी ॥40॥

ऐसे जीवाजीव को भेदज्ञान से चीर।
केवल आत्माधीन हो वही विश्व में वीर ॥41॥

यहाँ उनका आशय है कि सत्य और तथ्य में से विवेकोदय के द्वारा जो तथ्य को ग्रहण करता है, आत्माधीन होता है वही वीर है।

व्यवहार और निश्चय दोनों ही पक्ष है। वस्तुस्वरूप को समझने के लिए विभिन्न भुमिकाओं में इनकी उपयोगिता है। कोई नय न हेय है न उपादेय। एकांगी प्रवृत्ति अपथ्य है, हानिकारक है। नयचक्र का प्रयोग निष्पक्षता से ही किया जा सकता है। सापेक्षता में जो पथ्य होता है वही निरपेक्षता में अपथ्य हो जाता है। मरण का कारण होता है। कहा भी है -

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानम् ।।पुरुषार्थ-59।।

आशय यह है कि जिनेन्द्र भगवान का नयचक्र अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला है । जैसे अज्ञानी मनुष्य चक्र की किसी और का पक्ष करने उस पर जोर देने अर्थात् संतुलन न कर पाने के कारण अपने ही मस्तक को काट डालता है उसी प्रकार नयचक्र अज्ञानी एकांत पक्षग्राही की बुद्धि को नष्ट कर देता है । जो नयचक्र पथ्य है वह अपथ्य हो जाता है । अत: नय प्रयोग में एक नय का हठाग्रह वर्जित है ।

13. निश्चय - व्यवहार सम्यक्त्व

इसकी चर्चा करते हुए आचार्य महाराज ने पृष्ठ 17 पर स्वरचित पद्य क्रमांक 13 की व्याख्या स्वरूप लिखा है -

"श्री जिनभगवान के बताये अनुसार जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नव पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करने रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन प्राप्त करके चतुर्थ गुणस्थानवर्ती बनकर फिर पञ्चमादि गुणस्थानों में संवर और निर्जरा का उत्कर्ष एवं आस्रव और बन्ध का क्रमश: अपकर्ष करते हुए आगे बढ़कर अन्त में इतर समस्त जीवाजीवादि पदार्थों पर से अपनी चित्तवृत्ति हटाकर सिर्फ अपनी आत्मा के अनुभव करने में तल्लीनता रूप परम समाधिधारण कर ली जाती है उस पर पदार्थों में सम्पूर्ण तया उदासीनता रूप वीतराग छद्मस्थ अवस्था की हालत में जो इस जीव का एकान्त आत्मभिरुचि रूप परिणाम होता है उसी का नाम निश्चयसम्यक्त्व है । जैसा कि पं. दौलतरामजी ने भी अपने छहढालें में "पर द्रव्यनि तै भिन्न (हटकर) आप में रुचि सम्यक्त्व भला" इस वाक्य द्वारा प्रगट किया है और समयसारजी के तात्पर्यवृत्तिकार श्री जयसेनाचार्यजी ने तो "या चानुभूतिरात्मन: परमसमाधि काले सा चैव निश्चयसम्यक्त्व" इस प्रकार स्पष्ट ही लिखा है ।"

आचार्यश्री ने पृष्ठ 2 पर इसी निश्चयसम्यक्त्वी को कारण समयसार लिखा है जो कि उपरोक्त प्रकार 11-12वें गुणस्थान में होता है । उनका सम्यक्त्व-विषयक निरूपण वर्तमान में अति उपयोगी है क्योंकि कानजी मतानुयायी एकान्त निश्चयाभासी पहले निश्चय और पश्चात् व्यवहार मार्ग का मिथ्या राग अलाप कर भोले-भाले जन-समुदाय को भ्रमित करते रहे हैं । तथा अपने को निश्चय-सम्यग्दृष्टि एवं निर्विकल्प स्वात्मानुभूति के धारक घोषित करते हैं । उलटे कार्य-कारण भाव को ग्रहण करने के कारण जिनकी मति और गति ही मिथ्या हो रही है । वे कुन्दकुन्द स्वामी और उनके कुछ ग्रन्थों का सहारा लेते हैं किन्तु वाणी का प्रयोग उनसे विरुद्ध करते हैं एवं श्रमण संस्कृति और आर्ष मार्ग से विपरीत चलते हैं । जो अपने को स्वयं निश्चय-सम्यग्दृष्टि कहते हैं और निर्बन्ध एवं मोक्षमार्गी मानते हैं, उनको सद्बुद्धि प्रदान करने हेतु निम्न कलश अति उपयोगी है -

सम्यग्दृष्टि: स्वयमयमहं जातु बन्धों न मे स्यात् ।
इत्युत्तानोत्पुलकवदना - रागिणोप्याचरन्तु ।

आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः ।
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥

- स. कलश 137॥

- जो स्वयं अपने को सम्यदृष्टि मानते हैं और कहते हैं कि मेरे क्वचित् कदाचित् बन्ध नहीं होता और अभिमान से मुँह फुलाये हैं साक्षात् राग का आचरण कर रहे हैं। (गृहस्थ की बात ही क्या) वे मुनि भी हों और समितियों के पालन से आलंबित हों फिर भी पापी हैं उन्हें आत्मा-अनात्मा के भेद विज्ञान की प्राप्ति नहीं है और वे सम्यक्त्व से शून्य हैं। स्पष्ट है कि सराग अवस्था में निश्चय-सम्यक्त्व नहीं है वह तो 11-12 गुणस्थान में ही संभव है आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा ही है -

परमाणुमित्तयंपि हु रागादीणं दु विज्जते जस्स ।
णवि सो जाणदि अप्पाणं तु सव्वागमधरो वि ॥211॥

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवा जीवे अयाणंतो ॥212॥

अर्थात् परमाणुमात्र भी रागी को सम्यक्त्व नहीं है। निश्चय-सम्यक्त्व वीतराग चारित्र का अविनाभावी है।

स्पष्ट है कि आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का निरूपण पूर्णरूप से आगमानुकूल है। वे कहीं भी शिथिल दृष्टिगत नहीं होते। साथ ही वे जनहिताकांक्षा से सर्वत्र ओतप्रोत ही स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं।

14. व्यवहार - निश्चय-मोक्षमाग

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को मोक्षमाग कहा गया है। यह रत्नत्रय भी व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार है। आचार्य अमृतचन्द्रजी की तत्वार्थसार में यह निम्न उक्ति ज्ञातव्य है,

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधास्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्यसाधनः ॥

- तत्वार्थसार उपसंहार-2 ॥

- मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार दो प्रकार का है उसमें निश्चय साध्य है एवं व्यवहार उसका साधन है।

विवेकोदय में आचार्य ज्ञानसागरजी ने इस विषय में श्रोताओं को सम्यक् भाव हृदयंगम कराने हेतु एवं भ्रान्ति और एकान्त निवारण हेतु सविस्तार निरूपित किया है यहाँ हम अपेक्षित प्रकरण को उद्धृत कर रहे हैं। (पृष्ठ 84 से प्रकरण प्रारम्भ है)

"(हृदय-ज्ञान-चारित्र) भिन्न रत्नत्रय और अभिन्न रत्नत्रय कहे जाकर व्यवहार और निश्चय-मोक्षमार्ग नाम से पुकारे जाते हैं।

भिन्न भिन्न यों मानि विवेचक लोग चलें इन पर क्रम से,
जब तक पहुँच न पावें निश्चय मोक्षमार्ग पर स्वश्रम से ।
और छोड़ि, निज में रुचि निज का ज्ञान लीनता भी निज में,
यो निश्चय पथ पावे यति होकर के कर्म हने क्षण में ।।102।।

ऊपर लिखे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्मा के स्वभाव है इसलिए वस्तुतः आत्मा से अभिन्न होते हैं फिर भी मुमुक्षु इनको लक्षणादि से भिन्न-भिन्न मानकर इन्हें प्राप्त करने और इनमें निष्णात होने की भावना रखता है अथवा यह पर है इसे छोड़ना और अपने आपको स्वीकार करना इस प्रकार विवेचनात्मक चेष्टा होती है तब तक के परिणमन को व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है और इस प्रकार के अपने पुरुषार्थ के द्वारा और सब-कुछ को छोड़कर अपने आपके आत्मस्वरूप में रुचि प्राप्त करते हुए और सब-कुछ को भुलाकर अपने आपको ही जानते हुए अपने आप में ही तल्लीन हो रहता है जहाँ पर पहुँच कर इस जीव की ऐसी अवस्था हो लेती है उस क्षण के इसके भाव को निश्चय-मोक्षमार्ग कहते हैं । उस समय यह आत्मा सच्चा यति होकर कुछ ही देर में अपने पूर्वकृत कर्मों को खपा डालता है । मतलब व्यवहार-मोक्षमार्ग की सम्पत्ति नियम से निश्चय-मोक्षमार्ग की जनक है और निश्चय-मोक्षमार्ग की पूर्ति होने से उत्तरक्षण में मुक्ति हो जाती है । यहाँ स्वामी कुन्दकुन्दाचार्यजी की मूल गाथा इस प्रकार से है कि -

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टन्ति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खको अणिदो ।।256।।

अर्थते गमय्ते प्राप्यत इत्यर्थः, निश्चयस्तदात्मकः स चासावर्थश्च तं मुक्त्वा अर्थात् प्राप्त करने योग्य निश्चय-मोक्षमार्ग को लक्ष्य में न लेकर उसे साध्य न बनाकर सिर्फ व्यवहार-मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले लोग समझदार नहीं होते क्योंकि व्यवहार-मोक्षमार्ग तो साधन रूप है उसको प्राप्त करने का तरीका है । साधन साध्य का ही किया जाता है उसके बिना नहीं होता । (उदाहरण) उसी प्रकार निश्चय-रत्नत्रय जिससे सम्पूर्ण कर्मक्षय रूप मोक्ष की साक्षात् प्राप्ति होती है उसे भूल करके कोरे व्रत तपश्चरणादि रूप व्यावहारिक क्रिया-काण्ड में ही लगा रहे तो वह ठीक नहीं । वह तो व्रत तप न होकर बाल तप कहा जावेगा । व्यवहार भी न होकर दुर्व्यवहार एवं शुभ भी न होकर शुभाभास माना जावेगा, अधर्म ही होगा धर्म नहीं । मोक्ष का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है । परन्तु साध्यभूत निश्चय-रत्नत्रय को लक्ष्य बनाकर उसे प्राप्त करने के लिए अपूर्ण अवस्था में साधन रूप से व्रतादि का आचरण करना शुभरूप होते हुए भी व्यवहाररूप से मोक्षमार्ग है अतएव धर्म भी है । सकल संयमी मुनि के महाव्रत ही नहीं बल्कि देश संयमी की शुभाशुभ रूप मिश्रित चेष्टा भी धर्म मानी जाती है क्योंकि धर्म की भूमिका चौथे गुणस्थान अव्रत सम्यग्दृष्टि नामक स्थान से ही शुरू हो जाती है ।

शङ्का – हम तो समझते हैं कि शुभवृत्ति तो विकार भाव है वह कभी भी धर्म नहीं हो सकती । तथा वस्तुविज्ञानसार के पृष्ठ 92 पर भी (कानजी ने) ऐसा ही लिखा है देखो,

वीतराग शासन में कथित जीवादि नव-तत्त्वों की विकल्प से जो सच्ची श्रद्धा है सो पुण्य का कारण है क्योंकि उसमें भेद का और पर का लक्ष्य हैं । पर लक्ष्य धर्म का कारण नहीं है इत्यादि तथा उनके समयसार प्रवचन पृष्ठ 437 पंक्ति 19 में ही लिखा है कि नवतत्त्व के भेद से - विकल्प से आत्मा का विचार करना सो शुभराग है, व्यवहार है उसमें धर्म नहीं है और हम लोग तो उपयुक्त गाथा का भी ऐसा ही अर्थ लगाया करते हैं कि - निश्चयार्थं मुक्त्वा अर्थात् मतलब की चीज एक निश्चय (अभेद) रत्नत्रय ही है उसी का आश्रय लेना, उसी से कर्मक्षय होते हैं । उसके सिवाय व्यवहार मार्ग को अपनाना तो किसी भी हालत में ठीक नहीं है प्रत्युत बन्ध का ही कारण है ।

उत्तर – भैयाजी, क्या कह रहे हो यह तुम्हारा कहना तो सभी जैनाचार्यों के विरुद्ध पड़ता है । खुद इस समयसारजी में ही पहले बताया जा चुका है कि निश्चय तो तीर्थफल रूप है और व्यवहार तीर्थ अर्थात् उसकी प्राप्ति का उपाय । इन्हीं श्री कुन्दकुन्द ने चारित्तं खलु धम्मो ऐसा कहकर उस चारित्र के अणुव्रत और महाव्रत रूप भेद करते हुए उन दोनों को ही धर्म बतलाया है देखो इनका चारित्रपाहुड ग्रन्थ तथा च इन्हीं ने अपने रयणसार ग्रन्थ में - 'दाणं पूजा मुक्खो सावयधम्मो ण सावया तेण विणा ।' ऐसा लिखा है ।

शङ्का – अणुव्रत और महाव्रतों को जब कि तत्त्वार्थसूत्र में शुभबन्ध का कारण बनाकर आस्रव के वर्णन में लिया है तो फिर उन्हें धर्म कैसे कहा जा सकता है । धर्म तो मोक्ष का कारण होता है और आस्रव संसार का ।

उत्तर – ठीक है परन्तु उसी तत्त्वार्थसूत्र में पञ्च समितियों को संवर में लिया है जो समितियां भी तो शुभरूप ही होती हैं । जब समितियां संवर हैं तो व्रत जो होते हैं समिति गुप्ति वगैरह सहित ही होते हैं उन्हें छोड़कर तो हो नहीं सकते । व्रत अवयवी और समिति आदि उनके अवयव हैं । अत: यह अर्थ हुआ कि वही व्रत आस्रव रूप भी हैं और संवर रूप भी । निरर्गलता का निरोधक होने से तो संवर रूप किन्तु किंचित् सत्प्रवत्ति रूप होने से प्रशस्तास्रव रूप भी जैसे कि जल से धोया हुआ कपड़ा, बिना धुले कपड़े से तो साफ होता है किन्तु साबुन से धुले हुए कपड़े की अपेक्षा मैला भी । वैसे छठे गुणस्थान की अपेक्षा से तो पञ्चम गुणस्थान के परिणाम आस्रव रूप किन्तु चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा संवर अत: धर्म रूप ।

शङ्का – धर्म तो वस्तुस्वभाव का नाम है । आत्मा का स्वभाव तो निर्विकल्प एक अखण्ड ज्ञायक है । अणुव्रत महाव्रतादि भेद विकल्प रूप आत्मा का धर्म कैसे हो सकता है ।

उत्तर – ठीक है आत्मा के स्वभाव का नाम ही धर्म है किन्तु आत्मा का स्वभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय है जो कि आत्मा के साथ भी और आपस में भी कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है । आत्मा गुणी है और ये उसके गुण हैं । आश्रय इन तीनों का अभिन्न एक आत्मा है परन्तु अर्थक्रिया इन तीनों की भिन्न-भिन्न हैं एवं वस्तु का स्वरूप कथंचित् भेदोभेदात्मक है । वस्तु का स्वभाव अभेद रूप ही हो सो बात जैनशासन में तो मान्य नहीं है । निर्विकल्प ध्यान समाधि में भी सर्वथा निर्विकल्पपना

नहीं होता वहाँ पर भी आत्मा के गुण से गुणान्तर और पर्याय से पर्यायान्तर का विचार होता ही रहता है । हाँ, बाह्य वस्तुओं में तेरा-मेरा, भला-बुरा मानते हुए जो विकल्प उठते थे सो वहाँ नहीं होते । इसीलिए उसे निर्विकल्प समाधि कहा है । टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने भी आत्मीक गुणों का भिन्न-भिन्न प्रतिभासात्मक भेदरूप व्यवहार का नहीं किन्तु अन्य द्रव्यों को लेकर जो संकल्प-विकल्प होते हैं तद्रूप व्यवहार का निषेध किया है देखो, "यः खलु परमार्थ मोक्ष हेतोतिरित्तों व्रततपः प्रभृति शुभकर्मा केषाचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धस्तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभावात् परमार्थमोक्षहेतोरेवैक द्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानंभवनस्याभावात्" ऐसा लिखा है अर्थात् अपने इस शरीर से किसी का बिगाड़ न करना, सर्दी-गर्मी की बाधा, भूख-प्यास की वेदना का सह लेना इत्यादि आत्मस्वभाव से भिन्न सिर्फ वाह्य के व्रत और तप को ही जिन किन्हीं लोगों ने मोक्ष का कारण मान रक्खा हो तो सब यहाँ जैनशासन में निषिद्ध है, वह मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ आत्मा का परिणमन नहीं है वह तो आत्मा से भिन्न द्रव्य शरीर मात्र की क्रिया है । किन्तु जबकि इच्छा का न करना आत्मा का स्वभाव है ऐसा समझते हुए होनेवाली भोजन की इच्छा को न होने देने रूप या न होने रूप जो तप हुआ सो भेद प्रतिभासरूप होने से व्यवहार कहलाता है । किन्तु आत्मस्वभावमय है इसलिए मोक्षमार्ग है धर्म ही है और इसके होते हुए शरीर से जो भोजन नहीं किया जाता वह उस व्यवहार धर्म का भी सहयोगी होने से बाहरी तप कहलाकर उपचार धर्म कहा जावे तो क्या बुरी बात है । जो बात जिस प्रकार है उसको उस प्रकार कहना या जानना सो तो सम्यग्ज्ञान है आत्मा का स्वभाव ही है । **प्रत्युत इस प्रकार के भेद प्रतिभास को भी आत्मा का धर्म न मानना विकल्प कहकर अधर्म बताना, एकान्त अभेद को ही आत्मधर्म स्वीकार करना तो घोर मिथ्यात्व है आत्मा को अज्ञान स्वीकार करना है ।"**

पू. आचार्य ज्ञानसागरजी ने उपरोक्त जो निश्चय-व्यवहार-मोक्षमार्ग की चर्चा की है वह बड़ी सटीक है । उन्होंने आर्ष-परम्परा और आचार्यों के मन्तव्य को कहीं भुलाया नहीं है प्रत्युतः स्थान-स्थान पर प्रकट किया है । आवश्यकतानुसार उद्धरण भी दिये हैं । तत्समय-प्रचलित मिथ्या एकांत मान्यताओं का खंडन मधुर शैली में किया है ।

जैन परंपरा में मार्ग ग्रहण शैली यह है कि एक समय एक हाथ से जिस भाव को ग्रहण किया जाता है अन्य समय में दूसरे हाथ में रखकर छोड़ दिया जाता है । मोक्षमार्ग में व्यवहार और निश्चय यानी शुभ व्रतादि की ओर निर्विकल्प भाव की यह रीति है । निर्विकल्प भाव भी मार्ग है मंजिल नहीं वह भी परमपद प्राप्त होने पर नहीं रहता । कोई अपूर्व दशा है सो सदाकाल रहती है । आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने मोक्षमार्ग में ग्रहण त्याग का क्रम बतलाते हुए लिखा है -

अपुण्यमव्रतैर्पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि परित्यजेत् ॥ समाधिशतक-83॥

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत् तान्यपि संप्राप्य परमपदमात्मनः ॥समा. 84॥

- अव्रतों से पाप का बंध होता है और व्रतों से पुण्य का और दोनों के व्यय को (पाप-पुण्य के व्यय को) मोक्ष कहते हैं अत: मोक्षार्थी को अव्रतों के समान व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए। (क्रम यह है) अव्रतों को, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को परित्याग कर व्रतों में निष्ठावान होकर रहे अर्थात् व्रतों को अत्यन्त रूप से और रुचिपूर्वक ग्रहण कर उनमें अपेक्षित काल तक सफल निर्वाह कर संयमी रूप में अवस्थित होकर और आत्मा के परमपद को प्राप्त कर उनको (व्यवहार व्रतों को) छोड़ देवें। यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि परमपद प्राप्त होने पर ग्रहण त्याग का न तो अवकाथ है न विकल्प। अत: उस स्थिति में पहुँचते-पहुँचते व्रत स्वत: छूट जाते हैं उनको छोड़ा नहीं जाता। व्रतों को छोड़कर, पुण्य को छोड़कर या पाप में रहते हुए परमपद में नहीं पहुँचा जाता। मोक्षार्थी का पुण्यभाव ही शुद्धभाव के रूप में परिणत हो जाता है। यही कारण है कि व्रतों के ग्रहण हेतु तो प्रतिज्ञा नियम लिये जाते हैं छोड़ने के लिए कहीं जिनशासन में प्रतिज्ञा नियम नहीं निरूपित किये गये हैं। प्रतिक्रमण भी पाप का किया जाता है पुण्य कार्य या भाव का नहीं जिस प्रकार सीढ़ियों पर चढ़ते समय अग्रिम सीढ़ी पर पैर रखने का तो विकल्प होता है परन्तु नीचली सीढ़ी कब छोडूं, छोड़ना है यह विकल्प नहीं होता। ऊपर की सीढ़ी पर पैर रखने पर नीचे की तो अपने आप छूट जाती है। उसी प्रकार उपरिम भूमिका में अर्थात् शुद्धोपयोग में प्रवेश करते ही व्रत, शुभ स्वत: अपने आप छूट जाते हैं छोड़ना नहीं पड़ता और निश्चय व्रत तो छूटते नहीं। निश्चय व्रत को परमपद या परमसमाधि कहते हैं। (वृहद् द्रव्य संग्रह टीका देखें)

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि व्यवहार और निश्चय-मोक्षमार्ग दोनों आत्मा में ही हैं; आत्मा की ही पर्यायें हैं। यही आत्मा व्यवहार-मोक्षमार्ग रूप परिणत होता है और यही निश्चय-मोक्षमार्ग रूप। यही साध्य रूप है यही साधन रूप। मोक्षमार्ग एक है एक ही आत्मा में है किन्तु वह निश्चय-व्यवहार दो रूप है कहा भी है -

एष ज्ञानधनो नित्यमात्मासिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकं समुपास्याताम् ॥15॥सम. कलश॥

- आत्मासिद्धि के इच्छुकों को निरन्तर इसी एक ज्ञानरूप आत्मा को साध्य-साधक द्वैधीमान युक्त एकत्व भावरूप से उपासना करना चाहिए। अत: जो लोग व्यवहार-मोक्षमार्ग को आत्मा से पर एवं जड़ की क्रिया मानते हैं उनकी यह मान्यता प्रगाढ़ मिथ्यात्व अन्धकार है एवं व्यवहार-मोक्षमार्ग को मात्र उपचार कहकर एवं उपचार को अवास्तविक निरूपित कर तथा 'कहा है ऐसा है नहीं' का घोष कर वे स्वयं पापपंक में डूबते हैं और अन्य जनों को भी दिग्भ्रमित करते हैं। हाँ, व्यवहार-मोक्षमार्ग परम्परा से एवं साक्षात् रूप से निश्चय-मोक्षमार्ग मोक्ष का उपाय है। आचार्य कुन्दकुन्द ने दोनों को ही मोक्षमार्ग के रूप में मान्यता दी है; अवलोकनीय है-

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादि परिहरणं चरणं एसो द्र मोक्खपहो ।समयप्राभृत 162॥

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठि हवेइ फुडु जीवो ।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गो त्ति ॥भावपाहुड़–31 ॥

– जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप इनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है/ उनका जानना सम्यग्ज्ञान है एवं रागादि (विषय-कषाय) का परिहरण चारित्र है । यह मोक्षमार्ग है । ज्ञातव्य है कि यह सब व्यवहार-मोक्षमार्ग है ।

– आत्मा का अपने आत्मा में लीन होना यह सम्यग्दर्शन स्पष्ट रूप से है उसको जानना सम्यग्ज्ञान है तथा आत्मा में विचरण करना मोक्षमार्ग है । ज्ञातव्य है कि यह निश्चय-मोक्षमार्ग का लक्षण है । यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने 'फुडु' शब्द का प्रयोग किया है इससे विदित होता है कि यह साक्षात् मोक्षमार्ग है ।

आचार्य ज्ञानसागरजी ने इस सत्य को अपने दो छन्दों में व्यक्त किया है एवं समयसार का हार्द खोल दिया है; दृष्टव्य है,

व्यवहार मोक्षमार्ग –

अपनी गिरी हुई हालत को दिल से जो अनुसरता है ।
बुरे काम को छोड़ भले से भला काम वह करता है ॥
इस कर्त्तव्यपरायणता से सबसे भला कहाने को ।
एक रोज लायक बन जाता है उत्तमता पाने को ॥57॥

– उन्होंने यहाँ सारांश स्वयं लिखा है – वे कहते हैं उसकी इस कर्त्तव्यपरायणता का नाम ही व्यवहार नय है जिसका अधिकारी सराग सम्यग्दृष्टि है ।" उपरोक्त छन्द का अर्थ व अभिप्राय विवेकोदय ग्रन्थ में पाठक देख सकते हैं ।

निश्चय–मोक्षमार्ग –

"निश्चयनय को अपनाकर के शुक्ल ध्यान में हो लवलीन ।
आत्मभावना के सिवाय तब और भाव सब होय विलीन ॥
उसको जाने उसको माने उसको ही पहिचाने है ।
करना तो हो दूर कर्म का उसका यो बल माने है ॥56॥

उपरोक्त वर्णन से यह बात सामने आती है कि व्यवहार-मोक्षमार्ग गति का नाम है। तो निश्चय मोक्षमार्ग यति (विराम) का नाम है । जैसे पथिक अपने गन्तव्य की ओर गमन करता हुआ उसकी प्राप्ति पर थम जाता है निश्चल हो जाता है उसी प्रकार व्यवहार-मोक्षमार्ग कर्त्तव्यपरायणता अर्थात् यथेष्ट क्रिया के द्वारा, गति के द्वारा निश्चल पद रूप निश्चय-मोक्षमार्ग या निश्चय-कारण समयसार में स्थित हो जाता है । यदि और गति की संगति में भी कार्य की सिद्धि होती है । लक्ष्यहीन गति गर्त्त में भी पटक सकती है निरर्थक भी हो सकती है एवं विध ही केवल लक्ष्य के चिन्तन अथवा गुणगान से बिना क्रिया के कोई लाभ नहीं है । भोगोन्मुखी प्रवृत्ति को हटाकर योग से सक्रिय होना पड़ेगा । आचार्य अमृतचन्द्रजी ने कहा भी है –

स्याद्वाद कौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वयमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानय परस्परतीव्रमैत्री –
पात्रीकृतः श्रयतिभूमिमियां स एकः ॥267 सम. कलश॥

– स्याद्वाद की कुशलता (नय-निष्पक्षता) और निश्चल संयम (अतिचार रहित दृढ़) के द्वारा जो निरन्तर अपनी आत्मा में रत होकर उसको भाता है, ध्यान करता है एवं ज्ञान-नय (निश्चय-नय) व क्रिया-नय की मित्रता ने जिसे पात्र बना दिया है ऐसा कोई एक (विरला) व्यक्ति ही इस कारण समयसार की भूमिका-पदवी को प्राप्त करता है ।

ऊपर के कलश से यह स्पष्ट है कि यह अवस्था संयमी साधु के ही सम्भव है क्योंकि भोग और योग का विरोध है । पं. बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है –

"दो पथ पन्थी चलै न पन्था । दो मुख सूई सिये न कन्था ।
दोउ काम नहिं होंय सयाने । विषय भोग और मोक्षहु जाने ॥

पू. आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने विवेकोदय में निश्चय-व्यवहार के अनेकों अन्य विषयों को भी लिया है । ये विषय उनकी अन्य रचनाओं में भी है । हम वहाँ उन्हें प्रस्तुत करेंगे ।

15. जयोदय महाकाव्य

पू. आ. श्री की यह कालजयी कृति है । अपने वृहद् कलेवर को लिए हुए संस्कृत भाषा में विविध छन्दों के श्लोकों में निबद्ध यह रचना ज्ञानपिपासुओं का कण्ठहार बनी हुई है । सन् 1995 में मदनगंज-किशनगढ़ (राज.) में प. पू. मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज के चरण सान्निध्य में चातुर्मास्य काल में उनकी सत्प्रेरणा से 'जयोदय महाकाव्य' पर वृहद् विद्वत् गोष्ठी का आयोजन हुआ था । लगभग सौ विद्वानों ने अपने आलेखों का वाचन किया था । जयोदय के अंतर्गत समाविष्ट विविध विषयों का ऊहापोह पू. मुनिराजजी के तद्विषयक उपदेशों एवं समाधानों के साथ वहाँ हुआ था । जयकुमार-सुलोचना चरित्र के माध्यम से पू. ज्ञानसागरजी महाराज ने पाठकों को धर्म में लगाने का महत्कार्य सम्पादित किया है ।

चारों अनुयोगों की सार्थकता – जैनदेशना को चार अनुयोगों में परम्पराचार्यों ने विभक्त किया है । प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग । प्रथम तीन अनुयोगों में व्यवहार नय की मुख्यता है एवं द्रव्यानुयोग में निश्चय की । सापेक्षता सर्वत्र है । जयोदय प्रथमानुयोग की श्रेणी में आता है । इसमें भी आवश्यकतानुसार आचार्यश्री ने नय विषयक चर्चायें की हैं । प्रथम तो उन्होंने चारों अनुयोगों का पठन क्रम जो परम्परा में प्राप्त है सयुक्ति प्रस्तुत कर गृहस्थों का यथोचित मार्गदर्शन किया है । यहाँ हम विषय विस्तार के भय को छोड़कर एतत्सम्बन्धी उनके द्वारा प्रणीत 5 श्लोक क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं । (टीका उन्हीं के द्वारा लिखित है)

सम्पठेत् प्रथमतो ह्युपासकाधीतिगीतिमुचितात्मरीतिकाम् ।
अज्ञता हि जगतो विशोधने स्यादनात्मसदनावबोधने ।।45।। द्वितीय सर्ग

भूतले तिलकतामुताञ्चतां श्रीमतां चरितमर्चतः सताम् ।
दुःखमुच्चलति जायते सुखं दर्पणे सदसदीयते मुखम् ।।46।।

सुस्थितिं समयरीतिमात्मनः सङ्गतिं परिणतिं तथा जनः ।
द्रष्टुमाशु करणश्रुतं श्रयेत् स्वर्णकं हि निकषेपरीक्ष्यते ।।47।।

सञ्चरेत् सुचरणानुयोगतस्तावदात्महितभावनारतः ।
नित्यशोप्रतिनिवृत्त्यं सत्पथात्संभवेत्पथि गतस्य का व्यथा ।।48।।

किं किमस्ति जगति प्रसिद्धियत्कस्य संपदथ कीदृशी विपद् ।
द्रव्यनामसमये प्रपद्यतां नो वितर्कविषया हि वस्तुता ।।49।।

अर्थ – गृहस्थ को चाहिए कि वह सबसे पहले जिसमें अपने आपको करने योग्य कुलारीति-रिवाजों का वर्णन हो, ऐसे उपासकध्ययन शास्त्रों का ही अध्ययन करें ! क्योंकि अपने घर की जानकारी न रखते हुए दुनिया को खोजना अज्ञानता ही होगी अथवा इस भूतल पर श्रेष्ठ प्रसिद्धि को प्राप्त श्रीमान् सत्पुरुषों के जीवन-चरित का स्तवन करने पर गृहस्थ का दुःख दूर होता और सुख प्राप्त होता है क्योंकि अपना स्वच्छ या मलिन मुख दर्पण में देखा जा सकता है ।।46।। मनुष्य समीचीन अवस्था, काल के नियम अपनी सङ्गति, शुभगति या शुभाशुभ परिवर्तन का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए करणानुयोग शास्त्रों का अध्ययन करे । क्योंकि स्वर्ग के खरे-खोटेपन की परिक्षा कसौटी पर ही की जाती है ।।47।। इसके बाद अपना भला चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह चरणानुयोग का अध्ययन कर सन्मार्ग को न छोड़ता हुआ सदैव सदाचरण करें । क्योंकि सन्मार्ग पर चलनेवाले को क्या कष्ट होगा ।।48।। इसके बाद जगत में क्या-क्या चीजें हैं और किस-किस चीज का कैसा सुन्दर-असुन्दर परिणाम होता है, यह जानने के लिए द्रव्यानुयोग शास्त्र का अध्यन करें ।"

इसके अनन्तर चारों अनुयोगों की सार्थकता सिद्ध करने हेतु आचार्यश्री ने बताया है कि चारों अनुयोगों में ही आत्महित ही निरूपित है । अतः कोई अनुयोग न तो हेय है, न किसी का कम या अधिक मूल्य है । क्रम का निर्धारण इसीलिए है कि अपनी योग्यता को देखकर अर्थात् पात्रता वृद्धिंगत करते हुए स्वाध्याय योग्य ग्रन्थ का चयन करना चाहिए । व्युत्क्रम से अकल्याण ही होता है । लोक में भी कक्षा की दृष्टि से पाठ्यक्रम का निर्धारण होता है । कक्षा प्रथम में दसवीं की पुस्तक नहीं पढ़ाई जाती । प्रथमं, करणं, चरणं, द्रव्यं नमः यह क्रम आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्ज्ञान के निरूपण में रत्नकरण्ड श्रावकाचार में वर्णित कर चारों अनुयोगों की पुष्टि की है । चाहे किसी अनुयोग में व्यवहार प्रमुख हो या निश्चय । प्रमथम तीन अनुयोगों का परिशीलन कर एवं जीवन में उतार कर मनुष्य द्रव्यानुयोग के अध्यात्म का पात्र होता है । वर्तमान में अध्यात्मपरक समयसारादि को ही अध्ययन कर अन्य अनुयोगों की अवहेलना करनेवाले मुमुक्षुओं को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि

कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रन्थ रचना मुख्य रूप से श्रमणों को लक्ष्य में रखकर की है । इसका अर्थ यह नहीं है कि गृहस्थों को उनके ग्रन्थों को पढ़ना वर्जित किया जा रहा है । आशय मात्र इतना ही है कि पढ़ते समय यह ध्यान रहे कि यह कथन साधु के लिए किया जा रहा है और साधु अवस्था प्राप्त कर हमें इसे स्वीकार करना होगा, सेवनीय होगा तो भ्रम नहीं रहेगा तथा व्यवहार अथवा निश्चय में किसी का पक्ष नहीं होगा । उनके ग्रन्थों में प्राय: मुनि, श्रमण आदि शब्दों से संबोधन किया गया है तथा अन्य भी अधिकांश स्थलों पर मुनिपरक व्याख्यान पाया जाता है । एक दो उदाहरण प्रस्तुत हैं -

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमतो जाणगो द्र जो भावो ।
एवं भणन्ति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ।।समयप्राभृत 6।।

यहाँ यह कहा है कि शुद्धज्ञायक भाव न प्रमत्त है न अप्रमत्त । प्रमत्त और अप्रमत्त दो भेद मुनि के ही होते हैं गृहस्थ के नहीं । प्रमत्त और अप्रमत्त इन दोनों गुणस्थानों से ऊपर शुद्ध ज्ञायकभाव है । गृहस्थ की यहाँ चर्चा नहीं । गृहस्थ पर यह कथन लागू नहीं होता ।

प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार की अन्तिम दो गाथाओं में तो कुन्दकुन्द ने श्रमणों को स्पष्ट निर्देश देते हुए कहा है, "जो मुनि अवस्था में उक्त पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता वह श्रमण नहीं है और जो मोह की दृष्टि का घात कर चुका है, आगम में कुशल है, विराग अर्थात् चारित्र के प्रति उद्यत है वह महात्मा श्रमण है और धर्मस्वरूप है । इस उद्धरण से हमारे उक्त कथन की पूर्णतया पुष्टि हो जाती है । केवल अष्टपाहुड में, चारित्रपाहुड़ में दो-चार गाथाओं में ही मात्र गृहस्थ धर्म का वर्णन है ।

अत: उनकी रचनायें प्रथमकाल्पिकों के लिए नहीं हैं । जिन्हें देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप का भान नहीं, सात तत्त्वों से जो अपरिचित हैं गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थानों का जिन्होंने कभी नाम भी नहीं सुना, कर्मबन्ध की प्रक्रिया से जो अनजान है नयों का जिन्हें बोध नहीं है ऐसे लोग भी यदि समयसारादि अध्यात्म के निश्चय और व्यवहार कथन में उतरते हैं तो उससे स्वयं उनका ही अकल्याण है । यह तो संसार-शरीर भोगों से अन्त: करण से विरक्त और पञ्चपरमेष्ठी को अनन्य शरण रूप से भजनेवाले (व्यवहार में पारंगत) उन तात्त्विक पथ के पथिकों (केवल मुमुक्षु नहीं अपितु मोक्षमार्गियों) के लिए है जिनको न व्यवहार का पक्ष है न निश्चय का क्योंकि समयसार नयपक्षातीत है ऐसा स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है ।

आचार्य ज्ञानसागरजी ने अनुयोगों की सभी विधाओं को अपनी दिव्य-लेखनी से स्पर्श किया है उन्हें किसी विशिष्ट अनुयोग का अथवा नय का पक्ष नहीं है । ठीक भी है साधु का अन्त:करण स्वपरहितसाधन की उदात्त भावना से भरा हुआ है वे वीतराग मार्ग के अनुयायी हैं । समता-क्षमता उनके अंग-अंग में व्याप्त है चाहे मन हो या वाह्य तन । मुख्यता किसी भी अनुयोग की हो तिरस्कार उन्होंने किसी भी आगम वाक्य का नहीं किया । अनुयोग परस्पर में पूरक हैं । एक अनुयोग की सिद्धि में अन्य की सिद्धि गर्भित है । यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रजी के दो श्लोक प्रस्तुत करना अप्रासंगित न होगा । दृष्टव्य है -

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं मिथोद्वयमिदं ननुसव्यपेक्षः ।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥12॥

द्रव्यस्यसिद्धौ चरणस्यसिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ।
बुद्ध्वेति कर्माविरता परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥13॥

(प्रवचनसार टीकागत श्लोक - चरणानुयोग चूलिका)

- चरण द्रव्यानुसार है और द्रव्य चरणानुसार है । अर्थात् दोनों (चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग) सापेक्ष हैं । इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा चरण का आश्रय लेकर (मुख्य कर) मुमुक्षु (मुनि) मोक्षमार्ग में आरोहण करो (12)

- द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है यह जानकर कर्मों से अविरत तथा अन्य भी द्रव्यानुयोग से अविरुद्ध (अनुसार) चरणानुयोग का आचरण करो ।

पू. आचार्य ज्ञानसागरजी का हृदय वात्सल्य एवं सत्त्वेषु मैत्रीभाव से आपूर्ण था । वे इस बात से सदैव सावधान रहते थे कि कहीं भी शास्त्र का विरुद्ध अर्थ संपादित न हो । उन्हें तात्कालिक शास्त्र विरुद्ध एवं एकांत निश्चय-व्याख्यान के प्रति जागरुकता थी । अपने वाङ्मय में स्पष्ट रूप से उन्होंने नाम लेकर सदोष वक्तृता का उल्लेख एवं उसका निरसन किया है, जयोदय की स्व-पज्ञ टीका (श्लोक संख्या 41, उत्तरांश सर्ग 15) का निम्न वाक्य सूत्र ही ज्ञात होता है -

"सद्धर्मव्याख्यानमपि व्याख्यातृदोषेण कृत्वा सदोषमेवाधुना भवति विसंवादत्वात्।"

अर्थ – व्याख्याता (प्रवचनकार) के दोष के कारण समीचीन धर्म का व्याख्यान भी वर्त्तमान में दोषपूर्ण है क्योंकि उससे विसंवाद होता हैं । यदि वक्ता में दोष है प्रामाणिकता नहीं है विषय-कषाय से विरक्त नहीं है एवं एकान्ती है तो उसका वचन भी प्रमाण की कोटी में नहीं आता । कहा भी है 'वक्तृप्रामाण्यात्वचनप्रामाण्यम् ।' वक्ता की प्रमाणता से वचन की प्रामाणिकता है । आ. ज्ञानसागरजी का निरूपण अत्यन्त प्रामाणिक है उन्होंने जो कुछ भी नय निरूपण किया सभी अनेकान्तात्मक है । उनकी समस्त रचनायें ही निम्न पद्य का अनुसरण करती प्रतीत होती हैं जिसमें जिन देशना के समस्त वाक्यों, समस्त अनुयोगों को ही सत्य एवं सार्थक निरूपित किया है -

सकल मनेकान्तात्यकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 23

अर्थ – आचार्य अमृतचन्द्रजी सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित अंग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान ने सम्पूर्ण वस्तु का अनेकान्तमय स्वरूप वस्तु का अनेकान्तमय स्वरूप कहा है उनकी समस्त देशना अनेकान्तमय है । चाहे निश्चय से कथन या व्यवहार से । उसमें क्या सत्य है क्या असत्य है, अमुक सत्य है अमुक असत्य है यह शंका नहीं करना

चाहिए इसी की पुष्टि आचार्य ज्ञानसागरजी ने की है । उन्होंने प्रत्येक अनुयोग के प्रत्येक वाक्य को अपेक्षा से सत्य प्रमाणित किया है । अनुयोगों में वस्तु स्वरूप व्याख्यान में विरोध भी दृष्टिगत होता है किन्तु वह विरोध अपेक्षा दृष्टि से अविरोध के लिए है ।

16. व्युत्पत्ति चमत्कार

पू. आ. महाराज ने अन्य शब्दों की चमत्कृत करनेवाली व्युत्पत्तियों के साथ ही नयों की भी अतिशय मनोहारी एवं उपयोगी व्युत्पत्तियां की हैं । पहले हमने कुछ प्रस्तुत भी की हैं । जयोदय में इसी प्रकार का एक स्थल दृष्टव्य है । सत्रहवें सर्ग में श्लोक संख्या 90 कीं स्वोपज्ञ टीका में यह प्रस्तुत की है ।

"........ देशकालानुसारो वचनपद्धतिप्रकारो नयः .... "

- देश काल के अनुसार वचन शैली के विशेष या भेद को नय कहते हैं । कितनी सटीक व्युत्पत्ति है । देश काल के विपरीत कथन को स्वयमेव कुनय संज्ञा प्राप्त होती है। कोई भी कथन सर्वत्र सर्वस्थिति में सार्थक नहीं है असत्य ही है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है कि 'अर्हन्त नाम सत्य है' यह वाक्य भले ही समीचीन हो किन्तु विवाह के अवसर पर नहीं बोला जाता उनकी नयरूपता या सत्यता शवयात्रा में ही होती है ।

17. अनेकान्त सिद्धि

जयोदय में श्री आचार्य ज्ञानसागरजी ने अनेकान्त के महत्त्व को स्थापित किया है । दृष्टव्य है -

वीरोदिते समुदितैरिति संवदमः
कल्यप्रभाववशतः प्रतिबोधनाम ।
संप्रापितं च मनुजैश्चतुराश्रमित्व
मेकान्तवादविनिवृत्तितयाप्ति वित्त्वम् ।।45 सर्ग 18।।

- भगवान महावीर के द्वारा समर्पित मत अनेकान्तवाद में समुदित-संगठित हुए मनुष्य ने कलिकाल से प्रभावित न हो, प्रबोध को प्राप्त किया अर्थात् अपने कर्त्तव्यकर्म का निर्धार कर ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और ऋषित्व इन चार आश्रमों को प्राप्त किया तथा एकान्तवाद को छोड़कर स्वस्थता का अनुभव किया । हे राजन् आप यह सब जानते हैं, अतः हम कहते हैं कि आप ज्ञानी हैं ।

यह सर्वत्र ज्ञातव्य है कि सम्यक् नयों (निश्चय-व्यवहार अथवा इनका विस्तार) के समूह को, सम्यक् एकान्तों के समूह को अनेकान्त कहते हैं । मिथ्या, निरपेक्ष या मिथ्या एकान्तों के समूह को मिथ्या अनेकान्त या अनेकान्ताभास कहते हैं । अनेकान्त सिद्धि का तात्पर्य ही निश्चय-व्यवहार दोनों की सिद्धि से है । पू. महाराज ने तो ऊपर दो बड़ी मार्गदर्शन सूचनायें दी हैं ।1. अनेकान्तवाद में ही संगठन संभव है । वर्तमान जो विघटन है वह एकान्तपक्ष

के दुराग्रह के फलस्वरूप ही है । अपने को कुन्दकुन्द का अनुयायी घोषित करनेवाले निश्चय एकांत के विष से विषाक्त होकर कुन्दकुन्द के सच्चे अनुयायी दिगम्बर साधुओं की प्रतिष्ठा गिराने में लगे हैं एवं त्याग-तपस्या के मार्ग के विपरीत झंडा गाड़ रखा है । यद्यपि जैन समाज इससे सावधान होकर परित्याग कर रहा है । 2. सामाजिक एवं व्यक्तिगत स्वास्थ्य का अनुभव अनेकान्त में ही होता है । एक आँख से ही सदैव देखनेवाला मनुष्य अंत में अस्वस्थ हो ही जावेगा । नय और नयन लगभग एकार्थवाची हैं । नय भी नेत्र हैं । द्रव्यार्थिक (निश्चय), पर्यायार्थिक (व्यवहार) नेत्र रूपी वस्तु स्वरूप को जानने के उपाय हैं ।

ऊपर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने जिस संगठन और स्वास्थ्य का महामंत्र अनेकान्त उद्घोषित किया है वह अनेकान्त ही भगवान् महावीर का सर्वोदय तीर्थ है । आचार्य समन्तभद्र की यह उक्ति दृष्टव्य है -

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथ्योऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं दुरन्तं सवर्नोदयं तीर्थमिदं तवैव ।।युक्त्यनुशासन 92।।

इस श्लोक में आचार्य समन्तभद्र ने अर्पितानर्पित नय-पद्धति के प्रयोग युक्त एवं समस्त आपत्तियों के नाशक अर्थात् सहअस्तित्व के महामन्त्र अनेकान्त को सर्वोदय तीर्थ के रूप में व्याख्यापित किया है । यही मन्तव्य आचार्य आचार्य ज्ञानसागर का ऊपर वर्णित है ।

पदार्थों के सत्स्वरूप का वर्णन करते हुए महाराज ने अभेद नय (निश्चय नय) एवं भेद नय का निरूपण निम्न श्लोक एवं स्वोपज्ञ टीका में किया है उदाहरण के माध्यम से सुपाच्य एवं सुगम रूप में है, अवलोकनीय है ।

सदेतदेकं च नयादभेदाद् द्विधाऽभ्यधास्त्वं चिदचित्प्रभेदात् ।
विलोडनाभिर्भवतादवश्यमाज्यं च तक्रं मुनि गोरसस्य ।।

- सर्ग 26/92।।

टीका – हे प्रभो ! सदिति सामान्यं वस्तु तदपि चामेदान्नयादेवैकं भवति । भेदान्नयान्तु पुनस्त्वं चिच्चेतनात्मकमचिज्जडात्मकमिति प्रभेदाद् द्विधा द्विरूपतयाभ्यधा उक्तवान् । यथावश्यमेव विलोडनाभिर्गोरस्यैकस्यैवाज्यं घ्रतं तक्रं च मथितमिति भवतादेवेति द्विरूपं पृथक् पृथक् भुवि।

हे भगवान्, इस सत् को आपने अभेद नय से एक तथा भेद नय की अपेक्षा चेतन-अचेतन के प्रभेद से दो प्रकार का कहा है । यह ठीक ही है कि विलोडन करने पर पृथ्वी पर गोरस के घी और तक्र के भेद से दो भेद अवश्य हो जाते हैं । पदार्थ का स्वरूप भेदाभेदात्मक होने से ही व्यवहार और निश्चय नय की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । आचार्य ज्ञानसागरजी ने सोदाहरण दोनों भेदों को वास्तविक माना है । घी-तक्र दोनों प्रत्यक्ष दृष्टव्य हैं उसी प्रकार दोनों नय वास्तविक हैं कोई भी नय अवस्तु का कथन नहीं करता । यहाँ हम उक्त कथन की पुष्टि हेतु आचार्य अमृतचन्द्रजी का निम्न कलश प्रस्तुत करते हैं,

एकस्यचैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्यत्ववेदी च्युत पक्षपात स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।81।।

एक नय की (निश्चय की) दृष्टि से आत्मा एक है किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से एक नहीं है अनेक है आत्मा के विषय में दो नयों का यह पक्षपात है । जो तत्त्ववेदी है वह पक्षपात से रहित है उसके लिए तो आत्मा आत्मा ही है । चाहे एक रूप में हो चाहे अनेकों रूपों में । अभेद रूप में हो या भेद रूप में हो ।

18. सरस्वती मूर्ति से अनुयोग सिद्धि

आचार्य ज्ञानसागरजी कवित्व शक्ति के कीर्तिमान् थे । पदार्थ में छिपी हुई प्रतिभा एवं वस्तुस्वरूप ज्ञायकता को वे सहज में ही ग्रहण कर लेते थे । लोक में सरस्वती की जो प्रतिमा मान्य है उसके चार हाथ हैं । एक में वीणा, दूसरे में पुस्तक, तीसरे में माला और चौथा हाथ गोद के मध्य में हैं । आचार्य ज्ञानसागर ने चारों भुजाओं को चारों अनुयोगों की रूपक व्यक्त किया है । वीणा से प्रथमानुयोग, पुस्तक से करणानुयोग, माला से चरणानुयोग एवं गोद में रखने से द्रव्यानुयोग । चारों ही अनुयोग दोनों नयों निश्चय-व्यवहार के द्वारा वर्णित हैं अनेकान्त मय हैं । आचार्य अमृतचन्द्रजी ने भी सरस्वती जिनवाणी को अनेकान्त की मूर्त्ति घोषित किया है यथा -

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्त्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।समयसार-2।।

उक्त सरस्वती मूर्ति से अनेकान्त निरूपण, अनुयोगों की सिद्धि जयोदय सर्ग 19 में श्लोक 25 से 28 तक दृष्टव्य है । विस्तार भय से संकेत मात्र किया है ।

19. वीरोदय महाकाव्य

वीरोदय आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का प्रसिद्ध महाकाव्य है इस सम्बन्ध में पू. आचार्य विद्यासागरजी के शिष्य एवं पू. आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के प्रशिष्य पू. मुनिराज सुधासागरजी महाराज के पावन सान्निध्य में वृहद् गोष्ठी सम्पन्न हो चुकी है । वीरोदय में विभिन्न प्रकार के उपयोगी विषयों का समावेश आ. श्री ने बड़ी सूझ-बूझ से यथास्थान किया है । इसमें उन्होंने संक्षेप में निश्चय-व्यवहार एवं अनेकान्त को प्रस्तुत किया है ।

मंगलाचरण की परम्परा में भगवान महावीर के गुणों की स्तुति करते हुए वे कहते हैं -

वीर ! त्वमानन्दभुवामवीरः मीरो गुणानां जगताममीरः ।
एकोऽपि सम्पातितभामनेक-लोकाननेकान्तमतेन नेक ।।

- सर्ग 1-5

- हे वीर, तुम आनन्द की भूमि होकर भी **अवीर** हो और गुणों के **मीर** होकर भी जगत के **अमीर** हो । हे **नेक** (भद्र) तुम अकेले ने ही एक होकर भी अनेकांत मत से **अनेक** लोगों को (परस्पर विरोधियों को) एकता के सूत्र में सम्बद्ध कर दिया है । यहाँ

वीरोधाभास अलंकार एवं यमकालंकार की पद्धति में अनेकान्त को सह-अस्तित्व का सूत्र निरूपित किया गया है ।

और भी देखिए,

दीपेऽञ्जनं वार्दकुले तु शम्पां गत्वाम्बुधौ वाडवमप्यकम्पा ।
मेधा किलास्माकमियं विभाति जीयादनेकान्तपदस्य जातिः ॥

- सर्ग 19-22

- दीपक में अञ्जन, बादलों में बिजली और समुद्र में वडवानल को देखकर हमारी बुद्धि निःशङ्क रूप से स्वीकार करती है कि भगवान् का अनेकान्तवाद सदा जयवन्त है ।

उपरोक्त परस्पर विरोधी तत्त्वों के सह-अस्तित्व को देखकर यही मानना पड़ता है कि प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म हैं । इसी अनेक धर्मात्मकता का दूसरा नाम अनेकान्त है। इसकी सर्वत्र सदा विजय होती है । आचार्य समन्तभद्र ने कहा भी है -

"जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ।"

अनेकान्त की विजय का मूल कारण अपेक्षा दृष्टि अथवा स्याद्वाद है । आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने सर्ग 14 में अपेक्षा प्रयोग से द्रव्य की नित्यता और अनित्यता दोनों की सिद्धि की है ।

सचेतनाचेतनभेदभिन्नं ज्ञानस्वरूपं च रसादिचिन्हम् ।
क्रमाद् द्रवं यो परिणामि नित्यं यतोऽस्ति पर्यायगुणैरितीत्यम् ॥25॥

यहाँ आशय यह है कि गुणों की अपेक्षा चेतन-अचेतन सभी द्रव्य नित्य हैं एवं पर्यायों की अपेक्षा अनित्य या परिणामी हैं । यहाँ स्पष्ट है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीन लक्षण पर्यायार्थिक नय एवं द्रव्यार्थिक नय दोनों अपेक्षाओं से ही सिद्ध होते हैं ।

20. सप्तभंगी नय

आचार्य ज्ञानसागरजी ने वीरोदय के 19वें सर्ग के प्रारंभ में सप्तभंगी नय की उत्थानिकास्वरूप कतिपय श्लोकों की रचना की है उनमें एकादि को प्रस्तुत करना चाहूँगा।

प्राग्रूपमुज्झित्य समेत्यपूर्वमेकं हि वस्तूत विदो विदुर्वः ।
हे सज्जनास्तत्त्रयमेककालमतो विरूपं वदतीति बालः ॥2॥

- प्रत्येक वस्तु अपने पूर्व रूप (अवस्था) को छोड़कर अपूर्व (नवीन) अवस्था को धारम करती है फिर भी वह अपने मूल स्वरूप को नहीं छोड़ती । ऐसा ज्ञानीजनों ने (कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने प्रवचनसार आदि में) कहा है । सो हे सज्जनों आप लोग भी वस्तु की वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक त्रिरूपता एक काल में ही अनुभव कर रहे हैं । जो वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ हैं ऐसे मूर्खजन ही वस्तु को इससे विपरीतस्वरूप वाली कहते हैं । भावार्थ यह है जो केवल उत्पाद या व्यय या ध्रौव्य को ही वस्तुस्वरूप कहते हैं वे यथार्थ से अनभिज्ञ ही हैं । कुछ

लोग द्रव्य को तो सर्वथा ध्रुव मानकर पर्याय के अस्तित्व को ही पृथक् कहकर उसमें उत्पाद-व्यय मानते हैं यह भी अज्ञान है । तीनों एक ही काल में और तीनों पर्यायाश्रित होकर भी सब एक द्रव्य में ही हैं । कहा भी है -

उत्पादट्ठिदिभंगा विज्जन्ते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वे हि सन्तिणियदं तम्हा दव्वं हवे सव्वं ॥

- प्रवचनसार - 101

- उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायों में विद्यमान रहते हैं और पर्यायें नियम से द्रव्य में होती हैं (सबका आधार द्रव्य ही है) अतः द्रव्य ही सब-कुछ है अर्थात् वही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है । अपेक्षा भेद से द्रव्यांश और पर्यायांश की स्वीकृति के कारण द्रव्य को ध्रुव एवं पर्याय को उत्पाद-व्यय रूप कह सकते हैं, सर्वथा नहीं ।

आचार्य ज्ञानसागरजी ने उदाहरण देकर यह उक्ति प्रस्तुत की है -

"त्रयात्मिकातः खलु वस्तुजातिः ।" 3॥

समस्त वस्तु जाति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है । किसी अन्य मनीषी ने भी "सर्वं हि त्रिगुणात्मकं" कहकर यही सत्य प्रकट किया है । यह त्रिरूपता व्यवहार नय का विषय है क्योंकि अखण्ड अभेद पदार्थ में भी तीन या न्यूनाधिक भेद स्थापन करना व्यवहार नय का ही प्रयोजन है । यहाँ व्यवहार भी सद्भूद व्यवहार नय रूप है । कुछ नयस्वरूप से अनभिज्ञ जन ऐसा कहते हैं द्रव्य में उत्पाद-व्यय उपचार से है वास्तविक नहीं है । उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि उपचार का (उपचरित असद्भूत) कार्य तो वस्तुरूप से भेद होने पर भी अभेद स्थापन करना है । उत्पाद-व्यय अन्य द्रव्यरूप तो हैं नहीं जिनका अमुक द्रव्य में अस्तित्व है अपितु वे तो एक ही द्रव्य में हैं, कहा भी है, "उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत" (सूत्र) । यह भी जानने योग्य है एक द्रव्य दूसरे में अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को संक्रमित नहीं कर सकता ।

आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने उपरोक्त सत् की सिद्धि में अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों ही धर्मों को व्याख्यापित किया है, वे दृष्टान्तसहित कहते हैं -

नरस्य दृष्टौ विऽभक्ष्यवस्तु किरेस्तदेतद्वरभक्ष्यमस्तु ।
एकत्र तस्मात्सदसत्प्रतिष्ठामङ्गीकरोत्येव जनस्य निष्ठा ॥4॥

- मनुष्य की दृष्टि में विष्टा अभक्ष्य वस्तु है किन्तु शूकर के तो वह परम भक्ष्य वस्तु है । इसलिए एक ही वस्तु में सत् और असत् की प्रतिष्ठा को ज्ञानीजन की श्रद्धा अङ्गीकार करती ही है । उपरोक्त दृष्टान्त में यह प्रकट है कि एक ही काल में विष्टा में भक्ष्यता का अस्तित्व और नास्तित्व है । दोनों धर्म युगपत् हैं ।

आचार्य अकलङ्कदेव ने राजवार्तिक में इसी अस्तित्व और नास्तित्व को विधि और प्रतिषेध शब्दावली में कहकर सप्तभंगी का लक्षण निम्न प्रकार लिखा है -

"एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी ।" प्रश्न के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधिप्रतिषेध धर्मों की कल्पना सप्तभंगी है । प्रश्न सात ही संभव हैं अतः भंग भी सात होते हैं ।

आचार्य ज्ञानसागरजी ने भी पूर्वाचार्यों के उपरोक्त प्रकार के अभिप्रायः को ही अपनी सप्तभंगी की प्ररूपणा में प्रस्तुत किया है । श्रोता को इसका भाव ठीक से हृदयंगम हो एतदर्थ सटीक उदाहरणों का अवलम्बन लिया है । ज्ञातव्य है,

रेखैकिका नैवलघुर्नगुर्वी लध्व्याः परस्या भवति स्वदुर्वी ।
गुर्वी समीक्ष्याय लघुस्तृतीयां वस्तुस्वभावः सुतरामितीयान ॥5॥

अर्थ – कोई एक रेखा न स्वयं छोटी और न बड़ी है । यदि उसी के पास उससे छोटी रेखा खींच दी जाय तो वह पहली रेखा बड़ी कहलाने लगती है और यदि उसी के दूसरी ओर बड़ी रेखा खींच दी जाय तो वही छोटी कहलाने लगती है । इस प्रकार वह पहली रेखा छोटी और बड़ी दोनों रूपों को अपेक्षाभेद से धारण करती है । बस, वस्तु का स्वभाव भी ठीक उसी प्रकार का जानना चाहिए ।

इस प्रकार अपेक्षा विशेष से वस्तु में अस्तित्व धर्म सिद्ध होते हैं प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्ति रूप है और पश्चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि निश्चय-नय की दृष्टि से तो वस्तु अभेद एक है उसमें तो पदार्थ के सप्तभंग दृष्टिगोचर भी नहीं होते । समस्त सप्तभंगी व्यवहार नय के आश्रित ही है । वह व्यवहार नय सद्भूत व्यवहार है जिसमें कुछ पराश्रित प्रकरण अथवा पर की अपेक्षा होने से उपचारित नय का भी समावेश है ।

ऊपर आचार्यश्री ने मुख्य दो धर्म (भंग) अस्तित्व और नास्तित्व निरूपित किए हैं वे भी अपेक्षा से । अतः प्रत्येक भंग अपेक्षा से होने से उसके पहले स्याद् पद जोड़ना अभीष्ट है । यहाँ हम आचार्य महाराज के शब्दों को विस्तार से उद्धृत करना चाहेंगे । ताकि पूरे सप्तभंगी नय का स्वरूप पाठक को अवगत कराया जा सके ।

"सन्ति स्वभावात्परतो न यावास्तस्यादवाग्गोचरकृतप्रभावाः ।
सहेत्यतस्त्रितायात्प्रयोगाः सप्तात्र विन्दन्ति कलावतो गाः ॥6॥

अर्थ – जैसे जौ (यव) अपने यवरूप स्वभाव से 'है' उस प्रकार गेहूँ आदि के स्वभाव (चतुष्टय भाव) से 'नहीं' है । इस प्रकार यव में अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों धर्म सिद्ध होते हैं । यदि इन दोनों ही धर्मों को एक साथ कहने की विवक्षा की जाय, तो उनका कहना संभव नहीं है, अतः उस यव में अवक्तव्य रूप तीसरा धर्म भी मानना पड़ता है । (बिना अपेक्षा के अवक्तव्य है जैसे रेखा को छोटी या बड़ी कहना अवक्तव्य है) । इस प्रकार वस्तु में अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन धर्म सिद्ध होते हैं । इनके द्विसंयोगी तीन धर्म और त्रिसंयोगी एक धर्म इस प्रकार सब मिलाकर सात धर्म सिद्ध हो जाते हैं । ज्ञानीजन इन्हें ही सप्तभंग के नाम से कहते हैं ।

सप्तप्रकारत्वमुशन्तिभोक्तुः फलानि च त्रीण्यधुनोपयुक्तम् ।
पृथक्कृतौ व्यस्त-समस्ततातः न्यूनाधिकत्वं न भवत्यथातः ॥7॥

अर्थ – जैसे हरड़, बहेड़ा और आँवला इन तीनों का अलग-अलग स्वाद है । द्विसंयोगी कहने पर हरड और आँवले का मिला हुआ एक स्वाद होगा, हरड और बहेड़े का मिला हुआ दूसरा स्वाद होगा और बहेड़े और आँवले का तीसरा स्वाद होगा । तीनों को एक साथ मिलाकर खाने पर एक चौथी ही जाति का स्वाद होगा । इस प्रकार मूल रूप हरड़, बहेड़ा और आँवला के एक संयोगी तीन भंग, द्विसंयोगी तीन भंग और त्रिसंयोगी एक भंग ये सब मिलकर सात भंग जैसे हो जाते हैं और उसी प्रकार अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य ये तीन और इनके द्विसंयोगी तीन भंग और त्रिसंयोगी एक भंग ये सब मिलकर सात भंग हो जाते है। ये भंग न इससे कम होते हैं और न अधिक होते हैं । ऊपर लिखा ही है कि चूंकि प्रश्न भी सात ही संभव है अतः उनके उत्तर स्वरूप भंग भी सात ही हैं ।

भावार्थ – अस्ति 1, नास्ति 2, अवक्तव्य 3, अस्ति-नास्ति 4, अस्ति-अवक्त्य 5, नास्ति-अवक्तव्य 6, अस्तिनास्ति-अवक्त्य 7 । ये सातों भंग प्रत्येक वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करते हैं । अतः उस अपेक्षा को प्रकट करने के लिए प्रत्येक भंग के पूर्व स्यात् (कथञ्चित, किसी अपेक्षा से) पद का प्रयोग किया जाता है । इसे ही स्याद्वाद रूप सप्तभंगी कहते हैं । इस स्याद्वाद रूप सप्तभंग वाणी के द्वारा ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन संभव है अन्यथा नहीं ।

इसी सर्ग के श्लोक संख्या 21 में आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने सहेतुक रूप से भगवान के अनेकान्त शासन के आश्रय लेने की स्वीकृति स्वयं की है देखें,

समस्ति नित्यं पुनरप्यनित्यं यत्प्रत्यभिज्ञाख्यविदा समित्यम् ।
कुतोऽन्यथा स्याद् व्यवहारनाम सूक्तिं पवित्रामिति संश्रयामः ॥21॥

द्रव्य की अपेक्षा (निश्चय नय से) वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा (व्यवहार नय से) वही अनित्य है । यदि निश्चय नय को ही एकान्त रूप से मानकर वस्तु को सर्वथा नित्य कूटस्थ माना जाय तो उसमें अर्थक्रिया परिणमन नहीं बनती है और यदि (व्यवहार नय को ही एकान्त से स्वीकार कर) सर्वथा क्षणभंगुर माना जाय तो उसमें यह वही है इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता । अतएव (दोनों नयों को सापेक्ष स्वीकार कर) वस्तु को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना पड़ता है । अन्यथा लोक-व्यवहार कैसे संभव होगा, इसलिए व्यवहार के संचालनार्थ हम भगवान महावीर के पवित्र अनेकान्तवाद का सहारा लेते हैं ।

आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने गंभीर चिन्तन, मनन एवं अभीक्षण ज्ञानोपयोग के द्वारा जैनदर्शन की गहराइयों का अवगाहन किया था । वे नय विशारद थे, न्याय, जिसे प्रमाण-शास्त्र, हेतुशास्त्र, आन्विशिकी अथवा तर्क भी कह सकते हैं, के पंडित थे । वीरोदय का उन्नीसवां और बीसवाँ सर्ग तो आ. कुन्दकुन्द के प्रवचनसार और आ. समन्तभद्र की आप्ता-मीमांसा का निचोड़ ही विदित होता है । जैनेतर दर्शनों के एकान्त का निरसन एवं स्वमतस्थापन

की उनकी शैली अद्वितीय है । उन्होंने गूढ़, रूक्ष एवं क्लिष्ट न्याय के तत्त्वों का सरल, सौन्दर्ययुक्त एवं सुपाच्य व्याख्यान कर रुचिपूर्ण बना दिया है । प्रथमानुयोग के महाशास्त्र वीरोदय की यह विशेषता है । आचार्य महाराज ने प्रमेय दार्शनिक ग्रन्थों का पारायण करके ही इन अध्यायों की रचना की होगी । उन्होंने स्वयं उन्नीसवें सर्ग की समाप्तिसूचक पुष्पिका में 'अनेकान्त तत्त्वस्थिति' रूप ही यह सर्ग स्वीकार किया है, देखिए -

"श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं ।
वाणीभूषणं वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ॥
सर्गेऽङ्केन्दुसमङ्किते तदुदितेऽनेकान्ततत्त्वस्थितिः ।
श्री वीर प्रतिपादिता समभवत्तस्याः पुनीतान्वितिः ॥19॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बाल ब्रह्मचारी पं. भूरामल (वर्तमान मुनि ज्ञानसागर) विरचित इस वीरोदय काव्य में वीर भगवान द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त एवं तत्त्वस्थिति (या अनेकान्त रूप से अथवा अनेकान्तमय तत्त्वस्थिति) का वर्णन करनेवाला यह उन्नीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

बीसवें सर्ग में आ. ज्ञानसागरजी ने युक्ति और आगम के परिप्रेक्ष्य में सर्वज्ञसिद्धि को प्रतिपादित किया है । यह सर्ग भी वस्तुतः उनकी प्रज्ञा पूँजी का ज्वलन्त उदाहरण है । विद्वानों एवं जनसाधारण दोनों के लिए अवश्यमेव पठनीय एवं अनुसरणीय है ।

21. प्रवचनसार

यह आचार्य कुन्दकुन्द की महान् कृति है । दर्शन और चारित्र को व्याख्यायित करने का उनका अनूठा प्रयास है । इसमें ज्ञानतत्त्व, श्रेयतत्त्व और चरणानुयोग का विषय चारित्र सम्यक् प्रकार सुगठित पद्धति से निरूपित किया गया है । पू. आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने आध्यात्मिक ग्रन्थ की गाथाओं का संस्कृत श्लोकों में एवं हिन्दी पद्यों में तथा स्वोपज्ञ हिन्दी गद्य की टीका में स्वरूप प्रतिपादित किया है । यह अनुवाद एवं व्याख्यान की मिश्रित रचना है । आ. कुन्दकुन्द के अनुरूप ही उनके अभिप्राय को इसमें स्पष्ट किया गया है । इसके अन्तर्गत आने वाले विषयों का निरूपण भी निश्चय-व्यवहार नयात्मक है । भले ही निश्चय-व्यवहार का नाम न लिया जावे परन्तु उनका विवेचन तो प्रायः सर्वत्र है ।

22. सराग एवं वीतराग चारित्र

निश्चय-चारित्र के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं -

चरणं शमरूपेण चारित्रं धर्मनाम भाक् ।
आत्मनो परिणामो हि मोहक्षोभातिगः शमः ॥7॥

पद्यानुवाद -

जो शमभावरूप होता है वही धर्म कहलाता है ।
मोहक्षोमविहीन आत्म परिणाम जैनमत यो गाता ॥

चारित्र वास्तव में धर्म है और समता भाव का आचरण चारित्र है एवं मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही शम या समता भाव है । यहाँ पूर्ण वीतराग भाव ही परिणित किया गया है । क्योंकि दर्शनमोह एवं चारित्रमोह के उदय से रहित ही मोह-क्षोभ से अतीत परिणाम होता है । वीतराग-चारित्र ही निश्चय-चारित्र है आचार्यश्री ने इसे 'आत्मनो परिणामों' कहकर परनिरपेक्ष एवं अभिन्न कर्त्तृकर्म भावरूप शुद्ध पारिणामिक परिणमन निरूपित किया है । उसे शुद्धोपयोग भी कहा है ।

सरागचारित्र का निरूपण करते हुए आ. ने उल्लिखित किया है -

व्रतानि समितीरक्षा निरोधानि च पञ्चधा ।
कचलुञ्चनमस्नानमाचेलक्यमिलाशयम् ॥9॥
अदन्तधावनं स्थित्या भोजनं चैकधा दिने ।
विशुद्ध्यावश्यकषट्कं भो मुने मूलगुणनिमान् ॥10॥

(चारित्राधिकार)

हिन्दी पद्यानुवाद -

व्रतसमितीन्द्रिजय आवश्यक लोच भू शयन पर मुक्ति ।
अदन्तोन अस्नान एक भोजन दिन में उत्थित भुक्ति ।
जिनवरजी ने अट्ठाइस ये मूलगुण कहे हैं भाई ।
साधु वही होता है जिसके इनमें कमी न हो पाई ॥5॥

- 5 व्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रियविजय, 6 आवश्यक, केशलोंच, दिगम्बरत्व, अस्नान, भूशयन, अदन्तधावन, खड़े होकर भोजन, एकबार भोजन । ये मुनि के 28 मूलगुण व्यवहारचारित्र या सरागचारित्र रूप हैं ।

चारित्राधिकार में ही आ. ज्ञानसागरजी का यह श्लोक साधु के सरागचारित्र का निरूपण करता है -

सन्मतज्ञानसन्देशः शिष्यग्रहणपोषणम् ।
जिनपूजाद्युपदेशोऽप्यस्तुचर्या सरागिणाम् ॥68॥

- समीचीन धर्म का उपदेश, शिष्यों को ग्रहण करना, उनका पोषण करना, जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उपदेश यह सरागचारित्र के धारी श्रमणों की चर्चा है । अन्य भी वन्दना, धर्मचर्चा, साधुसेवा आदि भी सरागचारित्र है । यहाँ जिसे सराग कहा है उसे आगम में व्यवहार-चारित्र संज्ञा है दोनों एकार्थवाची हैं - दृष्टव्य है,

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त ।
वदसमिदि गुत्ति एवं ववहारणयादु जिण भणियं ॥

- वृहद्द्रव्य संग्रह - 45

अर्थ – अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र जानो वह व्रत, समिति, गुप्ति रूप है इस चारित्र को जिनेन्द्र भगवान ने व्यवहार नय से चारित्र कहा है । सारांश यह है व्यवहार नय अशुभ से हटकर शुभ प्रवृत्ति को (भले ही वह रागमय हो) चारित्र कहता है । इसको अन्य शब्दों में व्यवहार संयम, क्रिया, आचरण कह सकते हैं ।

इस समस्त प्रकरण को हम आ. ज्ञानसागरजी के शब्दों के द्वारा आपके सम्मुख रखते हैं, इसमें उपयोगी एतद्‌विषयक सामग्री पाठक को मिलेगी ।

प्रवचनसार पृष्ठ 3 – "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित जो सम्यक्‌चारित्र है वह सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार है । वीतराग चारित्र से तो साक्षात् निर्वाण की प्राप्ति होती है किन्तु सरागचारित्र से देवेन्द्र पद प्राप्त करके तदुपरान्त मनुष्य भव में चक्रवर्ती या बलदेव वगैरह की राजविभूति को प्राप्त करके फिर मुनि होकर मुक्ति प्राप्त करता है एवं सरागचारित्र परम्परा मुक्ति को प्राप्त करके फिर मुनि होकर मुक्ति प्राप्त करता है एवं सरागचारित्र परम्परा मुक्ति का कारण माना गया है ।" ज्ञातव्य है कि शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग नाम भी इन चारित्रों के स्वीकृत किए गये हैं । तथा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग दोनों ही धर्म निरूपित किये गये हैं । अपेक्षा व्यवहार एवं निश्चय की है । देखिये, निम्न पद्य में शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी दोनों को धर्मात्मा कहा गया है ।

प्रवचनसार पृष्ठ 5 –

"शुद्धोपयोगवान् मुक्तिं धर्मात्मा प्रतिपद्यते ।
शुभोपयोगवान् स्वर्ग–सुखं स इति शासनम् ॥29॥

"मतलब यह है कि शुद्ध या शुभ उपयोग की व्यवस्था में आत्मा अपने आत्मतत्त्व को स्वीकार किये हुए रहता है किन्तु अशुभ की दशा में आत्म-भाव, आत्मतत्त्व से दूर हटकर उत्पथ को अपनाये हुए रहा करता है । शुद्ध या शुभोपयोगी जीव धर्मात्मा होता है और अशुभोपयोगी जीव अधर्मी, पापी, पाखण्डी होता है । इसीलिए वह नरकादिक दुःखों का भाजन होता है ।"

यहाँ हम आ. कुन्दकुन्द चारित्राधिकार की गाथा उद्‌धृत करना प्रासंगिक समझते हैं,

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि
तेसिं सुद्धवुजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥65॥

– जिन शासन में श्रमण दो प्रकार के होते हैं, शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी । उनमें शुद्धोपयोगी अनास्रव हैं और शेष अर्थात् शुभोपयोगी आस्रव सहित । यहाँ शुभोपयोगी भी श्रमणों का अस्तित्व स्वीकार किया है और वे धर्म परिणत हैं । ये दो भेद श्रमणों के हैं अर्थात् गृहस्थ के नहीं । गृहस्थ तो शुभोपयोगी तक हो सकता है । प्रवचनसार की दसवीं गाथा तो तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन ने उल्लिखित किया है कि प्रथम गुणस्थान लेकर तृतीय तक घटता हुआ अशुभोपयोग, चौथे से छठवें तक बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग तथा सातवें से बारहवें तक बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग तथा तेरहवें, चौदहवें

में शुद्धोपयोग का फल होता है । तात्पर्य यह है कि गृहस्थ तो शुभोपयोगी एवं व्यवहार मोक्षमार्गी ही है । उसके चारित्र को सरागचारित्र या व्यवहारचारित्र कहा है । विशेष यह है कि सातवें के स्वस्थान अप्रमत्त रूप में शुभोपयोग एवं सातिशय-श्रेणी आरोहण के अभिमुख रूप में शुद्धोपयोग का सद्भाव होता है ।

ऊपर शुभोपयोगी को भी धर्मात्मा कहा गया है इस पर आ. ज्ञानसागरजी महाराज स्वयं शङ्का उठाकर समाधान करते हैं, (पृष्ठ 6)

शंङ्का – आपने शुभोपयोगी जीव को धर्मात्मा कहा सो हमारे तो समझ में नहीं आया क्योंकि धर्म तो शुद्धोपयोग का नाम है जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है एवं वह जिसके हो वह धर्मात्मा है यह ठीक है जैसे कि यहीं पर न. 11 की गाथा में 'यदि आत्मा शुद्धसम्प्रयोगयुतस्तदा तदा धर्म परिणतो भवति यतो निर्वाणसुखं प्राप्नोति' लिखा है तथा और भी जैन ग्रन्थों में हमने तो यही सुना है कि जो जीव को मुक्ति प्राप्त करा देता है वही धर्म है जैसा कि श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है - 'देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निबर्हणम्। संसार दु:खत: सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे' ॥2॥ इस श्लोक से भी स्पष्ट हो रहा है । शुभोपयोग तो अशुभोपयोग की तरह ही संसार का कारण है । यह बात दूसरी है कि अशुभोपयोग से नरक निगोद में जाता है और शुभोपयोग से स्वर्ग जाता है ।

उत्तर – यह तो तुम्हारा कहना ठीक है जीव को मुक्ति प्राप्त करानेवाला धर्म है, किन्तु संसार में ही घुमानेवाला अधर्म होता है । फिर भी जैनाचार्यों ने उस धर्म को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप से तीन भागों में विभक्त कर बताया है जैसा कि इसी ग्रन्थ की छठी गाथा में आया है । उसमें भी प्रधानता सम्यक्चारित्र की है क्योंकि सफलता चारित्र के ही आधीन है । सरल शब्दों में समताभाव का नाम चारित्र है जो कि मोह और क्षोभ से या अहंकार और ममकार से रहित आत्मा का परिमाम होता है जैसा कि यहीं (प्रवचनसार को) सातवीं गाथा में बताया जा चुका है । वह चारित्र दो प्रकार का होता है । एक तो मोह से और क्षोभ से सर्वथा रहित होता है अत: संसाराभावरूप अपने कार्य को करने में पूर्ण समर्थ होता है उसे शुद्धोपयोग या वीतरागचारित्र (निश्चय नय से चारित्र) कहते हैं ।

दूसरा वह होता है - जहाँ मोह (मिथ्यादर्शन) का तो अभव होता है परन्तु क्षोभ (राग-द्वेष) का सर्वथा अभाव न होकर आंशिक सद्भाव बना रहता है जिससे वह अपनी शक्ति का विकास न कर सकने के कारण तत्काल अपने कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता है । ऐसे चारित्र को ही सरागचारित्र (व्यवहार नय से चारित्र) या शुभोपयोग कहते हैं । इस शुभोपयोगवाला जीव लौकान्तिक या अनुत्तरिक देव तथा बलभद्र तीर्थंकरादि पद पाता हुआ अपनी आत्मा में समाश्वासन प्राप्त करता है जो कि शुभोपयोग एक अशक्त धर्मात्मा के लिए शक्ति सम्पादन का हेतु होने से ठीक ही है ।

शंङ्का – तो फिर टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने उसे (शुभोपयोग को) हेय क्यों लिखा?

उत्तर – उन्होंने शुद्धोपयोग को दृष्टि में (अपेक्षा में) रखते हुए शुभोपयोग को हेय बताया है सो ठीक ही है । शुद्धोपयोग की अपेक्षा से तो शुभोपयोग हल्का ही है । जैसे मान लो, दो मनुष्य एक स्थान पर जाने के लिए रवाना हुए । उनमें से जो दृढ़ाध्यवसायी

है वह बेरोकटोक सीधा शीघ्रता से चला जा रहा है । दूसरा भी उसी सड़क पर धीरे-धीरे बीच में विश्राम लेते हुए चल रहा है । ये दोनों एक ही पथ के पथिक हैं परन्तु चलने में उत्तमता पहले मनुष्य की है । इसी प्रकार शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी इन दोनों का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मार्ग एक ही है । दोनों ही मुक्ति को लक्ष्य में लेकर चलते हैं अतः दोनों ही धर्मानुयायी हैं । भेद इतना ही है कि वह (शुद्धोपयोगी) खेद रहित है और यह (शुभोपयोगी) खिन्नता को लिए हुए है जैसा कि टीकाकार श्री अमृतचन्द्र लिखते हैं -

"यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति । यदा तु धर्म परिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथञ्चिद् विरुद्ध कार्यकारिचारत्रिः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धभवाप्नोति ।"

आचार्य महाराज कहते हैं कि मानलो दो मनुष्य हैं जिनके रूक्ष हवा लगने से शरीर में दर्द हो गया है । दोनों ठीक होना चाहते हैं । इनमें एक व्यायामशील है जो दण्ड बैठकादि करके पसीना निकल जाने में अनायास ही स्वस्थ हो जाता है । दूसरा अपने शरीर के दर्द को मिटाने के लिए अग्नि पर उष्ण किये हुए तेल या घृत की मालिश करता है जिससे उसका दर्द तो धीरे-धीरे कम हो जाता है परन्तु इसके जो गरम-गरम तेल लगाया जा रहा है उसकी कुछ पीड़ा भी हो रही है । इसी प्रकार शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी ये दोनों ही मोक्षमार्गी हैं । दोनों ही धर्मात्मा हैं परन्तु इनमें से शुद्धोपयोगी जीव तो अपनी पूर्ण शक्ति से धर्म में लगा हुआ रहता है अतः साक्षात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और शुभोपयोगी जीव भी धर्मरूप अवश्य परिणत हो रहा है फिर वह अपनी शक्ति दबी हुई होने से अपना अभीष्ट कार्य पूरा न कर सकने के कारण सुधार रूप चेष्टा के साथ-साथ बिगाड़ रूप चेष्टा को भी लिए हुए होता है अतः स्वर्ग सुख प्राप्त करता है । मतलब यह है कि शुभोपयोगी जीव अपूर्ण धर्मात्मा होता है ।

अशुभपयोगी जीव तो सर्वथा ही धर्मशून्य अधर्मी पापी होता है जिससे वह कुयोनियों में परिभ्रमण करता रहता है । .... यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है । इससे शुभोपयोगी अच्छा है क्योंकि इसके हो जाने पर धर्म की अभिरुचि अवश्य होती है परन्तु उस धर्म की पूर्णता शुद्धोपयोगी के बिना नहीं हो सकती । सारांश .... शुद्धोपयोग उसी पुरुष के होता है जो सर्वप्रथम यथार्थ तत्त्वों के श्रद्धान करके अपने उपयोग को अशुभ से हटाकर शुभरूप बना लेता है । वाह्य सम्पूर्ण पदार्थों का त्याग करते हुए संयम धारण करके साधु दशा को स्वीकार कर लेता है फिर अपने अन्तरंग में भी स्फुरायमान होनेवाले राग द्वेषभाव पर भी विजय प्राप्त करता हुआ पूर्ण विरागता पर आ जाता है । उसकी दृष्टि में न तो कोई शत्रु ही होता है न कोई मित्र ही होता है । वह सुख और दुःख को बिल्कुल समान समझता है । आत्मा में उत्पन्न होनेवाले काम, क्रोध, मद, मात्सर्य और ईर्ष्या आदि विकारी भावों का मूलोच्छेद करके जबतक अपने आपको शुद्ध न बना लिया जाय तबतक वास्तविक पूर्ण शान्ति नहीं मिल सकती है और इन सब विकारों का मूलोच्छेद इस

दुनियादारी की झंझटवाले कौटुम्बिक जीवन में फंसे रहकर कभी नहीं हो सकता किन्तु इससे मुक्त होकर निर्द्वन्द्व दशा अपनाने से ही हो सकता है ।''

यहाँ ध्यान देने योग्य आ. कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की मूल गाथा प्रस्तुत करना संगत प्रतीत होता है -

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगतरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥14॥

- इसमें 'समणो सुद्धोवओगो' अर्थात् विशिष्ट मुनि ही शुद्धोपयोगी है यह स्पष्ट है। आ. जयसेन ने प्रवचनसार टीका में गृहस्थ के शुद्धोपयोग की भावना (गाथा 248) में लिखी है । यह भावना शुभोपयोग ही है । यह भी गौणरूप से उल्लिखित किया है । शुद्धोपयोग की भावना की मुनि के मुख्यता है । वर्तमान काल में तो साधु के भावना ही पाई जाती है क्योंकि श्रेणी आरोहण का अभाव है । जब साधु के लिए भी इस भावना रूप शुभोपयोग तथा उपर्युक्त बाह्य सरागचारित्र रूप शुभोपयोग उपादेय है तो गृहस्थ के लिए तो शुभोपयोग उपादेय ही है हेय नहीं । वह तो अपरमभाव में ही स्थित है और कुन्दकुन्द ने अपरमभाव में स्थित जीवों के लिए व्यवहार नय, जिसकी अपेक्षा शुभोपयोग उपादेय है का उपदेश दिया है ।

"ऊपर ज्ञानसागरजी महाराज ने शुभोपयोग को भी धर्म संज्ञा दी है वह समीचीन ही है । यद्यपि उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की गाथा की व्याख्या की है तथापि स्पष्ट रूप से शुभभाव को धर्मरूप में घोषित करनेवाली एक गाथा को उल्लिखित करने का लोभ-संवरण मैं नहीं कर पा रहा हूँ, दृष्टव्य है -

भावं तिविह पयारं सुहासुहं च सुद्धमेव णादव्वं ।
असुहं अट्टरउद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥भावपाहुड 76॥

- भाव तीन प्रकार के हैं शुभ, अशुभ और शुद्ध । उनमें अशुभ तो आर्त्तरौद्र (पाप) है और शुभभाव धर्म है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

आशय यह है कि शुभोपयोग भी आत्मा को शुद्ध करने का उपाय है । पू. महाराजजी ने पृष्ठ 8 पर शंका उठाकर एक स्पष्टीकरण दिया है ।

"**शंका** – क्या आत्मा वास्तव में अशुद्ध है ? हम तो पूर्ण सर्वथा शुद्ध समझते हैं।

उत्तर – वास्तव शब्द का मतलब होता है केवलपन । केवल (अकेलापन) की अवस्था में विकार नहीं हो सकता है । परन्तु इस आत्मा के साथ में अनादिकाल से कर्मपुद्गल परमाणुओं का मेल हो रहा है अत: इस संसारी जीव में विकार है ।

शंका – आत्मा के साथ कर्मों का मेल है तो भी क्या हुआ । कर्मों का एक परमाणु आत्मरूप और आत्मा का एक प्रदेश भी कर्म परमाणु रूप नहीं हुआ है फिर आत्मा का क्या बिगड़ गया । आत्मा के प्रदेश भिन्न हैं और कर्म परमाणु भिन्न हैं । जैसे कुछ गेहूँ हैं इनमें कुछ कंकर मिला देने से ये कंकरदार हो गये फिर भी गेहूँ गेहूँ ही हैं कंकर कंकर

ही है। हम जब चाहें गेहूँ से कंकरों को निकालकर बाहर कर सकते हैं। (यह निश्चयाभासी एकान्ती की मान्यता यहाँ प्रकट है।)

उत्तर – आत्मा का और कर्मों का गेहूँ और कंकरों के समान मेल नहीं हैं क्योंकि आत्मा के प्रदेश गेहूँ की तरह भिन्न नहीं होते हैं। आत्मा तो असंख्यात प्रदेशों का एक अखण्ड द्रव्य है वह किसी तूम्बी के ऊपर मिट्टी की तरह आत्मा के ऊपर कर्मपुंज से लिपट रहा हो ऐसा नहीं है। .... आत्मपरिणामों से कर्मों का और कर्मों के प्रभाव से आत्मा का प्रचलन (परिणमन, विकारीभाव) रहता है। मतलब यह है कि जैसे अग्नि के सम्पर्क से मोम अपने घनत्व को त्यागकर पिघल जाया करता है वैसे ही स्त्री-पुत्रादि बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में मोहनीयादि कर्मों के उदय को पाकर आत्मा भी रागद्वेषादि विकारों के रूप में परिणत हो जाया करता है।" (अशुद्ध होता है)।

आचार्यश्री ने जिस भाव को यहाँ प्रकट किया है उसके समर्थन में पञ्चाध्यायी का यह श्लोक प्रस्तुत करना अभीष्ट होगा।

जीवश्चेत् सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः॥

– यदि जीव सर्वथा शुद्ध है तो मोक्ष का उपदेश वृथा है (मोक्ष का उपदेश तो शुद्ध होने के लिए होता है) किन्तु मोक्ष के इष्टत्व को नकारना तो अनिष्ट ही है एवं मोक्षप्राप्ति के लिए श्रम करना भी बेकार है।

सांराश यह है आत्म-शुद्धि हेतु शुभोपयोग (सरागचारित्र) और शुद्धोपयोग (वीतराग-चारित्र) दोनों ही उपयोगी हैं। शुभोपयोग परम्परा मोक्षमार्ग है और शुद्धोपयोग साक्षात् रूप से। शुभोपयोग साधन है शुद्धोपयोग साध्य। बिना शुभोपयोग के कभी भी शुद्धोपयोग नहीं होता। जैसे कली पुष्प के रूप में परिणत हो जाती है एवंविध ही शुभोपयोग भी शुद्धोपयोग रूप में परिणत हो जाता है। शुद्धोपयोग की उपलब्धि 'सुविदिदपयत्तसुत्तो' एवं 'शुक्ल्चेचाद्येपूर्वविदः' के अनुसार श्रुतकेवली को होती है। ज्ञातव्य है कि शुद्धोपयोग होने पर शुक्लध्यान अवश्य होता है।

23. आत्मानुभव का सद्भाव

प्रस्तुत विषय निश्चयैकान्त के प्रचार के परिप्रेक्ष्य में विवाद का बना हुआ है क्योंकि निश्चयनय के पक्षपाती पहले निश्चय बाद में व्यवहार मानकर चौथे गुणस्थान में मात्र सम्यग्दर्शन के सद्भाव के आत्मानुभव की कल्पना कर 'इतोभ्रष्टा ततोभ्रष्टाः' हो रहे हैं। पू आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने इस विषय को भ्रान्ति-निवारणार्थ प्रवचनसार प्रवचन में पृष्ठ 18 पर उठाया है, देखिए –

"**शंका** – कोई-कोई विद्वान् कहते हैं कि द्रव्य श्रुतकेवली तो नहीं किन्तु भाव श्रुतकेवली तो पशु भी हो जाता है क्योंकि तिर्यञ्च के भी पञ्चम गुणस्थान होना बताया है जहाँ सम्यग्दर्शन आवश्यक है जो आत्मानुभवपूर्वक होता है और आत्मानुभव बिना श्रुतज्ञान के हो नहीं सकता। क्या यह ठीक है?

उत्तर – संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पशु सम्यग्दर्शन सहित अणुव्रतों का पालक हो सकता है यह बात तो ठीक है किन्तु चतुर्थादि सकषाय गुणस्थानों में जो सम्यग्दर्शन होता है वह व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहलाता है । इस अवस्था में आत्मानुभव न होकर आत्मतत्त्व का श्रद्धान होता है। (देखें गोम्मटसार की गुणस्थान परिभाषायें) जो सद्गुरु संदेश के अनुमननात्मक श्रुतज्ञानांश को लिए होता है । अनुभवनात्मक निश्चय (वीतराग) सम्यग्दर्शन तो महर्षि लोगों के परम समाधिकाल में ही बनता है । इसको स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार के सम्यक्त्वसार शतक को देखना चाहिए या श्री समयसारादि पूर्वाचार्यप्रणीत ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए।''

यहाँ विचारणीय है कि अनुभव का अर्थ रसास्वादन है । वस्तु जैसी होगी वैसा ही उसका आस्वादन होगा । गुड़ को चखकर चीनी का रसास्वादन नहीं हो सकता । नीम को चखकर मिश्री का अनुभव नहीं हो सकता । उसी प्रकार जिस गुणस्थान में होगा उसी रूप आत्मा का तो अनुभव होगा । मोक्षमार्ग में संसारी अनुभव या मिथ्यात्व और कषाय का अनुभव परिगणित नहीं होता । जब तक कषायांश है तब तक परमार्थ से आत्मानुभव यानी शुद्ध आत्मानुभव नहीं होगा । क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय संयुक्त होने पर आत्मा तद्रूप हो जाता है तो अनुभव तो उसी का होगा । एतदर्थ श्री आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने आर्ष परम्परानुसार परमसमाधिकाल गुप्ति अवस्था में इसकी स्वीकृति दी है । पूर्व अवस्था में मन की विश्रान्ति नहीं है । परिग्रह विषाय-कषाय इसमें बाधक कारण है यहाँ समयसार नाटक के दो छन्द प्रस्तुत है -

जाहँ पवन नहिं संचरै तहाँ न जल कल्लोल ।
तैसे परिग्रह छाँड़िकै मनसर होय अडोल ॥
वस्तु विचारत ध्यावतैं मन पावै विश्राम ।
रस स्वादत सुख ऊपजै अनुभव याको नाम ॥

आ. कुन्दकुन्द ने जो कहा है उस भाव को आ. अमृतचन्द्रजी ने निम्न कलश में व्यक्त किया है -

य एव मुक्तवा नम पक्षपातं स्वरूपगुप्ताः निवसन्तिनित्यम् ।
विकल्पजालच्युत शान्तचित्तास् त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥69॥

– जो नय पक्ष को छोड़कर अर्थात् निर्विकल्प होकर निरन्तर स्वरूप में गुप्त यानी त्रिगुप्ति अवस्था में समस्त विकल्पजाल से रहित शान्त चित हो जाते हैं वे ही साक्षात् आत्मानुभव रूप अमूल का पान करते हैं । वास्तव में मन की स्थिरता, स्वच्छता और अनुभव एकार्थवाची हैं । जब जल की कल्लोलें समाप्त हो जाती है तो चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब स्वयमेव प्रकट हो जाता है । श्रद्धा मात्र को अनुभव नहीं कहते जब ज्ञानोपयोग चारित्र में ध्यानरूप हो जाता है तो अनुभव कहलाता है । यह ज्ञान गुण की पर्याय है जो वीतरागचारित्र के अविनाभावी है । हाँ, सम्यग्दर्शन के होने पर ही अनुभव होता है सो ठीक ही है क्योंकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की एकताही मोक्षमार्ग है और अनुभव को मोक्षमार्ग कहें तो भी ठीक है । मोटे तौर पर तो अनुभव शब्द का प्रयोग कहीं भी किया जा सकता है । उपचरित-व्यवहार

या उपचार (कारण में कार्य का) भी अपने रूप में मान्य है । जितना कषायांश घटता है उस विशुद्धि रूप परिणत आत्मा का व्यावहारिक अनुभव स्वीकार्य है क्योंकि प्रत्येक संज्ञी जीव का ज्ञान गुण मन के माध्यम से कुछ-न-कुछ अनुभव तो करता ही है । मिथ्यात्व-ज्ञान-चारित्र से युक्त आत्मा से सम्यक्त्व-चारित्र आत्मा के उपयोग में अन्तर तो है ही । निश्चय नय के द्वारा मान्य अनुभव आ. ज्ञानसागरजी ने समाधिकाल में स्वीकार किया है वह उपरोक्त विश्लेषण से सिद्ध है । इसे ही निश्चय-मोक्षमार्ग कहते हैं ।

आ. ज्ञानसागरजी ने ध्यान अवस्था (समाधिकाल) में अनुभव अर्थात् शुद्ध आत्मानुभव लिखा है । गृहस्थ के मोक्षमार्गी ध्यान संभव नहीं है । उत्तम संहनन का एकाग्रचिन्तानिरोध ही ध्यान का लक्षण है । हाँ, हम लोग जो गृहस्थ के ध्यान की संभावना कहते हैं वह वस्तुतः भावना है । इसे व्यवहार नय से अनुभव कहें तो ठीक है । आ. शुभचन्द्रजी का निम्न श्लोक इसे सम्यक् स्पष्ट करता है -

एकाग्रचिन्तारोधो यस्तद्ध्यानं भावना परा ।
अनुप्रेक्षार्थ चिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ।।ज्ञानार्णव 25/16।।

- व्यवहारिक अनुभव वास्तव में परमार्थ से भावना, अनुप्रेक्षा, अर्थचिन्तन ही है । कहीं चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव अपने को समाधिस्थ मुनि सदृश अनुभवी नहीं मान ले एतदर्थ ही आ. ज्ञानसागरजी ने स्पष्टीकरण किया है । पृष्ठ 110 "(गृहस्थ के शुद्धात्मा के ध्यान) अगर उनका उपर्युक्त विचार वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से है तब तो बिल्कुल ही झूठा है । पागल के प्रलाप ही सदृश है । यदि आत्मद्रव्य की अपेक्षा से अपने आप को सुधारने के लिए किया जाता है तो ठीक ही है । यह शुद्धात्मध्यान नहीं कहा जा सकता है । यह तो शुद्धात्मभावना .... विचार मात्र है । ध्यान तो आत्मा के उपयोग का तद्नुकूल परिणमन होना माना गया है ।" उनकी दृष्टि में तो पूर्व कथित अनुसार इन गुणस्थानों का अनुभव या सरागरत्नत्रय व्यवहार-मोक्षमार्ग रूप में निश्चय-मोक्षमार्ग का साधन है । उन्होंने पृष्ठ 46 पर इसी हेतु अंकित किया है कि "अशुभ भाव से शुभ पर आये बिना शुद्धभाव पर नहीं पहुँचा जा सकता है ।" नीचे शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोगों विषयक आ. ज्ञानसागरजी के शब्दों को विशेषरूप उद्धृत किया जाता है ताकि विशेष परिज्ञान हो सके, (पृष्ठ 46) ।

24. पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, शुद्ध उपयोग

"..... ऐसे ही जो मनुष्य शुभभाव को ही पर्याप्त समझ रहा है वह शुद्धता को कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह तो अपने विचार के अनुसार सदा अशुद्ध ही बना रहेगा । उसके शुभभाव में और अशुभभाव में कोई खास अन्तर नहीं होता है । यह बात ठीक ही है इस प्रकार कह करके स्याद्वाद सिद्धान्त के पारगामी आचार्य महाराज (आ. कुन्दकुन्द) अब उपर्युक्त दृष्टिकोण से भिन्न दृष्टिकोण (व्यवहार नय) को स्वीकार करते हुए फिर कहते हैं -

शुभ और अशुभ भाव (पाप-पुण्यभाव) में यदि विशेषता लानी हो तो श्री अरहंत भगवान की शरण ग्रहण करनी होगी। ये अशुभ की तरह शुभभाव का भी त्याग करके स्वयं शुद्धता को प्राप्त कर चुके हैं एवं औरों को भी उसका उपदेश दे रहे हैं। ऐसे अरहन्तों को आदर्श मानकर उनका गुणानुवाद गानेवाले महाशय के अंतस्तल में यह विश्वास होना अवश्यम्भावी है कि जिस प्रकार अरहन्तों ने अपने आपको शुद्ध करके बताया है उसी प्रकार का प्रयत्न यदि मैं भी करूँ तो अपनी आत्मा में विकार रूप से उत्पन्न होनेवाला रागादि भावों को धीरे-धीरे अभ्यास के बल से घटाते हुए अन्त में इनका सर्वथा अभाव कर सकता हूँ .... इस प्रकार अरहन्तों को जानना, मानना एवं गुणानुवाद करना प्रकारान्तर से अपने आत्मतत्त्व को ही जानना, मानना एवं गुणानुवाद करना है। अरहन्तों के प्रति वास्तविक अनुराग रखनेवाले व्यक्ति की आत्मतत्त्व की भूल दूर हो जाती है जिससे अब इसका शुभभाव उपर्युक्त शुभभाव (पापानुबन्धी पुण्य) से भिन्न जाति का हो जाता है। अपने उत्तर काल में शुद्धता विधायक होने से वास्तविक शुभोपयोग होता है।''

शङ्का – ग्राह्य तो शुद्ध को करना चाहिए अशुभ की तरह शुभ भी त्याज्य ही है क्योंकि आत्मा जैसे अशुभ का त्याग करके शुभ को स्वीकार करता है वैसे ही शुभ का भी त्याग करके अन्त में शुद्ध बन जाता है।

उत्तर – अशुभ का प्रध्वंसाभाव शुभ है। शुभ का प्रध्वंसाभाव शुद्ध है यह बात तो ठीक है। ''चारित्रमोह के साथ दर्शनमोह का भी होना अशुभोपयोग है किन्तु दर्शनमोह दूर होकर चारित्रमोह का रहना शुभोपयोग है और चारित्रमोह का भी अभाव हो जाना शुद्धोपयोग है।'' अशुभ और शुभ ये दोनों तो, कृत्यतत्परतामय होते हैं किन्तु शुद्ध कृत्याभावरूप, कृतकृत्यतामय होता है, इतना इनमें भेद हैं।''

सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि शुद्धोपयोग की अपेक्षा दोनों ही शुभोपयोग और अशुभोपयोग हेय हैं क्योंकि दोनों ही अशुद्ध हैं दोनों में राग का सद्भाव है, किन्तु व्यवहार की दृष्टि से अशुभ हेय है और शुभ ग्राह्य है। निचली दशावालों के लिए तो शुभ या पुण्य ही धर्म है अशुभ या पाप नहीं। वह सर्वथा त्याज्य है। तीन वस्तुयें हैं – अमृत, दूध और विष। यदि अमृत प्राप्त हो रहा हो तो विष की त्याज्यता की तरह दूध भी त्याज्य है किन्तु उसके अभाव में तो कौन विवेकी दूध को छोड़कर विष ग्रहण करेगा। शुद्धोपयोग तो अमृत के समान है उसके अभाव में तो कल्याणदायी दूध के समान शुभोपयोग ही उपादेय है। शुभ और अशुभ (पुण्य-पाप) में महान अन्तर है। कहा भी है –

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः।
हेतु शुभाशुभौभावौ कार्ये चैव सुखासुखे॥

– कारण और कार्य की विशेषता की दृष्टि से पुण्य-पाप में अन्तर है। पुण्य का कारण शुभभाव और पाप कारण अशुभभाव है तथा पुण्य का कार्य सुख और पाप का कार्य दुःख है।

अन्यत्र भी -

वरवयतत्रेहिं सग्गो मा दुक्खं होइ णिरय इयरेहिं ।
छाया तवट्ठियाणं पाडिवालंताण गुरु भेयं ॥

- कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड - 25

- व्रत और तप (पुण्य) से स्वर्ग जाना श्रेष्ठ है किन्तु इतर अर्थात् अव्रत और पाप से नरक का दु:ख प्राप्त करना ठीक नहीं । छाया और आतप (धूप) में बैठे हुए व्यक्तियों के परिणामों में बड़ा भेद है ।

पू. आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने इस विषय में व्यापक चर्चा नय विभाग के द्वारा की है । हमने भी इस प्रकरण में व व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग एवं सराग-वीतराग चारित्र के प्रसंग में उनके दृष्टिकोण को माध्यम विस्तार से प्रस्तुत किया है । आगे भी संभवतः पू. श्री की समयसारजी की व्याख्या के प्रसंग में रखना अपेक्षित हो सकता है ।

प्रवचनसार में आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने अन्यत्र भी निश्चय और व्यवहार नय विषयक स्थलों को स्पर्श किया है । यहाँ संक्षेप में कुछ फुटकर निरूपण उनके ही शब्दों में प्रस्तुत है -

(पृष्ठ 68) "बात यह है कि हमारी दो आँखों में से एक आँख दाहिनी तरफ से देखती है और दूसरी बायीं तरफ से देखती है । इसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय वस्तु के अनेक विशेषों में होकर रहनेवाले सामान्य धर्म को ग्रहण करता है । अतः उसकी दृष्टि में वस्तु वही है ऐसा अनुभव होता है । पर्यायार्थिक नय वस्तु के सामान्य स्वरूप को न देखकर उसमें निरन्तर होनेवाले विशेषों को ग्रहण करता है । अतः उसकी दृष्टि में वस्तु अब और है, और है ऐसा नया-नया अनुभव होता रहता है । जब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों से एक साथ काम लिया जाता है तब वस्तु (वही) होकर भी और-और अवस्था को धारण करती हुई एक साथ दोनों रूप प्रतीत होती है ।"

अपेक्षा भेद से आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने निश्चय नय (द्रव्यार्थिक) को सद्भूत नय और व्यवहार (पर्यायार्थिक को असद्भूत नय उल्लिखित किया है ।

"सद्भूतापेक्षया जीवो न नश्यति न जायते ।
भव एव यतो नाशः किन्तु तौ रूपतः पृथक् ॥27॥

असद्भूततयाक्रान्तो जायतेऽपितु नश्यति ।
स्वभावावस्थितः कश्चित् संसारेऽस्मिन् विद्यते ॥28॥

(बिना आचरण के मात्र शब्द ज्ञान या रटने से लाभ नहीं)

"शुकपाठेन को लाभः च श्रद्धानेनचकेवलम् ।
सितास्तिमधुरेत्येवं मुखं सुस्वादु किं भवेत् ॥57॥

- शुकपाठ (तोतारटन्त) से या केवल श्रद्धान से क्या लाभ ? मिश्री मीठी है इस प्रकार कथन मात्र से क्या मुख मीठा हो जाता है, कदापि नहीं ।

नय (वचन) तो वस्तुत: प्रयोग करने के लिए है अनुभव और चारित्र के लिए है स्वसमय की प्राप्ति होने पर वे विलीन हो जाते हैं । सभी शब्दमार्ग नय हैं । नयों को वाचित करते रहें तो पराधीनता से मुक्त नहीं हो सकते । द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र में माइल्ल धवल ने कहा भी है -

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥

- जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर - समय हैं । अत: नयों का प्रयोजन स्वसमयता प्राप्त करके पलायन कर जाना है ।

पू. ज्ञानसागरजी महाराज ने प्रवचनसार की व्याख्या में नय निरूपण द्वारा अन्य विषयों को भी पल्लवित किया है उन विषयों को हम उनके अन्य ग्रन्थों के माध्यम से प्रस्तुत करेंगे।

25. सम्यक्त्वसार शतक

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा है । मोक्षमार्ग का प्रारम्भ सम्यक्त्व से होता है । सम्यक्त्व का अर्थ समीचीनता है । अर्थात् सामान्य रूप से दर्शन, ज्ञान और चारीत्र तीनों का सम्यंक्त्व मोक्षमार्ग में विधेय है किन्तु यह रूढ़ अर्थ में केवल सम्यग्दर्शन का पर्याय बनकर प्रकट हुआ है जैसा कि आ. अमृतचन्दजी के निम्न वाक्य में स्पष्ट है,

"तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।" पु. सिद्धि ।

पीछे हम सम्यग्दर्शन के व्यवहार और निश्चय दृष्टि से लक्षण बतला आये हैं । पू. ज्ञानसागरजी महाराज ने इसी सम्यक्त्व रूप महारत्न के विविध पार्श्वों को प्रदर्शित कर बड़ी रोचक शैली में 100 श्लोकों की रचना की है पश्चात् इसमें चार श्लोक पुष्पिका रूप मे हैं । इस ग्रन्थ में मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व की व्याख्या, मोक्षमार्ग उपादान-निमित्त, क्रमवर्त्ती पर्याय, द्रव्यों के परिणमन की स्वतन्त्रता, परतन्त्रता, स्वाभाविक वैभाविक शक्ति, षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकायस्वरूप वर्णन, त्रिवधि आत्मा, त्रिविध चेतना सम्यक्त्व के अंग भेदविज्ञान आदि का वर्णन किया है । सम्पूर्ण वर्णन में नयों का मधुरिम परिपाक हुआ है । नयस्वरूप वर्णन में हमने सम्यक्त्वसार शतक के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत भी किये हैं ।

आ. श्री ने स्वरचित इस गम्भीर ग्रन्थराज के हार्द खोलने के लिए स्वयं ही इसकी विस्तृत हिन्दी भाषा टीका की रचना क्षुल्लक अवस्था में (ज्ञानभूषण महाराज) की थी । प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय के अनुरूप ही हमारा यह प्रयत्न होगा कि इस अमृतोपम उपदेश के नय-निरूपणांश को पाठकों के समक्ष प्रकट कर सकें । यह स्पष्ट ही है कि उनके मूल और व्याख्या को देखने से प्रतीत होता है कि उन्होंने स्वयं ही शंका-समाधान और प्रश्नोत्तर शैली के आगमसम्मत रूप से नय विषयक एकान्त मान्यताओं का युक्तिपूर्ण निरसन किया

है। उन्हें प्रत्येक स्थल पर अनेकान्त ही प्रिय है। उसी का पोषण उनका अभीष्ट है। व्यवहार हो या निश्चय दोनों का सन्तुलन उनके प्रत्येक प्रस्तुतीकरण में समरसी भाव से उदित हुआ है उनको न निश्चय का आग्रह है न व्यवहार का। वर्तमान में नय विषयक जो भ्रान्तियाँ है उनके सम्यक् निवारण के लिए यह ग्रन्थ हृदय-हारवत् ही है और तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए अवश्य ही अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन हेतु धारणीय है। कतिपय विषयों को संक्षेप में पाठकों के समक्ष रखना उचित होगा। विशेष यह है कि कार्यकारण (उपादान-निमित्त) एवं ज्ञान की ज्ञाप्ति-क्रिया (निश्चय-व्यवहार से) विषयक आ. श्री का मन्तव्य हम पूर्व में नय योजना शीर्षक में व्यक्त कर चुके हैं।

26. पर्याय-व्युत्क्रम, नियतिवाद, अकालमरण

जैन समाज में कानजी मत के दुष्प्रभाव के कारण 'क्रमबद्धपर्याय' का मिथ्यान्धकार छाने लगा था यह बात पू. आ. श्री ज्ञानसागरजी के दृष्टि में आई। आगम में क्रमबद्धपर्याय शब्द ही नहीं है। हाँ क्रमवर्त्ती, क्रमभावी, क्रमनियमित, क्रमनियत है। किन्तु क्रमबद्ध का प्रयोग क्यों हुआ उसके मूल में आचार्य को पुरुषार्थहीनता, संयम की उपेक्षा, नियतिवाद, निश्चय नय का एकान्त हठ आग्रह आदि ही लक्ष्यगत हुए। अतः उन्होंने अनपे वाङ्मय में स्पष्ट दिशा-निर्देश दिया। हम सर्वप्रथम उन्हीं के शब्दों को प्रस्तुत करेंगे। प्रस्तुत विषयपरक निरूपण जो अन्य ग्रन्थों में है उसे भी यहाँ रखना उपयोगी होगा।

निश्चयनय को ही सर्वथा सत्य माननेवाले की मिथ्या धारणा यह है कि किसी भी द्रव्य में विकार नहीं होता उसके निरसन के प्रसंग में,

"धर्मोप्यधर्मोऽपि नमश्च कालः स्वाभाविकार्यक्रिययोक्तचालः।
जीवस्तथा पुद्गल इत्युद्म, परिव्रजेद्विक्रिययापि चार ॥12॥

अर्थ – अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और कालद्रव्य ये चारों द्रव्य किसी के साथ अपना किसी प्रकार का नाता नहीं जोड़ते। अतः ये सब ठीक एक अपनी उसी सहज चाल से परिणन करते रहते हैं परन्तु जीव और पुद्गल इन दोनों की ऐसी बात नहीं है। ये जब एक-दूसरे के साथ सम्मिलन को प्राप्त होते हैं तो एक और एक ग्यारहवाली कहावत को चरितार्थ करते हुए उदारता दिखाते हैं यानी अपनी सहज स्वाभाविक हालत से दूर रहते हुए विकार से युक्त होते हैं। "एक सो नेक किन्तु मेल में खेल होता है।" **दो चीजों के मेल में विकार आये बिना नहीं रहता।** अपने सहज क्रमबद्ध परिणमन के (पर्याय के) स्थान पर व्युत्क्रम को ही अपनाना पड़ता है। जैसे - अकेला पथिक अपनी ठीक चाल से चलता है, किन्तु वही जब दूसरे के साथ होता है तो दोनों को अपनी चाल मिलानी पड़ती है तो साथ निभता है एवं विचित्रता आ जाती है। देखों पुद्गलाणु से पुद्गलाणु का मेल होने पर अपनी परम सूक्ष्मता को उलांघ कर स्कन्ध जब जीव के साथ होता है तो पुद्गल को शरीर एवं जीव को उसका शरीरी होकर रहना पड़ता है।"

कितना सटीक उदाहरण आ. श्री ने यहाँ प्रस्तुत किया है । व्यवहार के द्वारा यह प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तुरूप को कौन नकार सकता है । क्रम के साथ अक्रम परिणमन भी आचार्यश्री ने सद्भाव रूप व्यक्त किया है । वह पुद्गल और जीवों में ही संभव ।

विवकोदय पृष्ठ 66

"**शंका** – जिस जीव को जिस देश में 'जिस काल में' जिस विधि से जो कुछ जन्म-मरण, सुख-दु:ख, रोग-दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञ देव ने जाने हैं उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे उसको कोई देव, दानव, इन्द्र या जिनेन्द्र भी और तरह का नहीं कर सकते ऐसा स्वामी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है । (यहाँ गाथा नं. 321 व 322 दी गई है) और इसका मान लेना एक सम्यग्दृष्टि भले आदमी के लिए जरूरी है फिर प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता रह जाती है जो होगा सो तो होगा ही ।"

उत्तर – भैयाजी ऊपर की गाथाओं में लिखा है वह तो ठीक ही लिखा है । (यह ध्यान रहे कि यह अनुप्रेक्षा है सिद्धान्त नहीं) कि जो कुछ जैसा हो गया जैसा होगा और जैसा हो रहा है उसको सर्वज्ञ का ज्ञान जानता है । (मात्र जानता है होनहार का नियामक नहीं है) परन्तु कर्त्ता कौन ? क्या कर्त्ता भी सर्वज्ञ का ज्ञान ही है । अगर हाँ, तब तो फिर ईश्वर कर्तृत्ववादियों में क्या अपराध किया है, वे सब जो कहते हैं सो (भी) ठीक ही ठहरता है परन्तु कर्त्ता उसका वह है जिसका कि वह कार्य होता है सर्वज्ञ का ज्ञान तो सिर्फ उसे जानता है एवं कार्य करनेवाला अपने कार्य को किसी भी प्रकार की खराबी से बचा कर उसे वह अच्छी तरह से करना चाहता है यही उसकी कर्त्तव्यशीलता है । फिर भी होता वही है जैसा कि जहाँ समर्थ कारण-कलाप होता है । अत: जो कार्यकर्त्ता के ही भावना के अनुकूल होता चला जा रहा हो वह तो ठीक ही है किन्तु जहाँ पर कार्य और रूप में निष्पन्न होता प्रतीत होता है वही पर यह भावना पाई जाती है ।

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे ।
और रूप नहिं होय सयाने काहे होत अधीरारे ।।अस्तु 1।।

अब साधारण तौर पर जीव दो तरह के होते हैं । एक दुनियादारी की ओर जानेवाला दूसरा परमार्थ की तरफ ढलनेवाला । उनमें से दुनियादारी का जीव परमार्थ के कार्य को नियति के भरोसे पर छोड़कर वैषयिक बातों पर डटा रहता है । एकान्त निश्चयाभासी है, किन्तु दूसरा इसके विपरीत सांसारिक कार्यों को नियति पर निर्भर मानकर आत्महित में तत्पर हो लेता है । जैसा कि स्वयं कानजी के वस्तु विज्ञानसागर में लिखा, (देखो पृष्ठ नं. 13) जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान दशा आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है वह मिथ्यादृष्टि है ।"

इस प्रसंग में आ. महाराज के समर्थन में कुछ आगमप्रमाण प्रस्तुत करने का लोभ संवरण मैं नहीं कर पा रहा हूँ एतदर्थ एवं कतिपय प्रस्तुत हैं, जिनसे उक्त विषय का खुलासा होगा ।

1. पर्यायें क्रमवर्त्ती हैं इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि वे क्रम से होती हैं । एक समय में दो पर्यायें नहीं होती, किन्तु किस के बाद क्या क्रम है यह कारण-कलापों पर निर्भर है कोई क्रमबद्ध नहीं । बंधन तो अन्य द्रव्य के द्वारा किया जाता है अत: किसी ने क्रम में बाँधी है ऐसा नहीं है । परिवर्तन संभव है । पर्यायों के क्रम और अक्रम दोनों रूप स्वीकृत हैं, दृष्टव्य है -

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽयं यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।
एवं क्रमाक्रमविवर्त्तिविवर्त्तचित्रं तद्द्रव्यपर्यायमयं चिदिहास्तु वस्तु ।

- समयसार कलश, 264

इसमें स्पष्ट रूप से 'क्रमाक्रमविवर्ति' क्रम और अक्रम पर्याय का उल्लेख आ. अमृतचन्द्रजी ने किया है ।

2. नियतिवाद (निश्चयैकान्त) के निरसन करते हुए उसे 363 प्रकार के मिथ्यात्वों में आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने परिगणित किया है ।

जत्तु जदा जेण जहाँ जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तस्स तहा हवे इदि वादो णियदिवादो दु ।।गो. क. 882।।

- जिसके द्वारा, जो, जब और जिसका होना है उसके द्वारा, वही, तभी और वह नियम से होता है, कोई फेर-फार नहीं, यह कथन नियतिवाद नायक मिथ्यात्व है ।

एकान्त नियतिवादी तो भ्रम से उल्टा उसे सम्यक्त्व मानकर पुरुषार्थहीन हो रहा है। यह तो आगम प्रमाण है । इसके अतिरिक्त ये नियतिवादी जिस टोडरमलजी रचित 'मोक्षमार्गप्रकाशक' को ही सर्वस्व मानकर चलते हैं उसमें भी स्पष्ट रूप से निम्न स्थल नियतिवाद का खण्डन करता है, अध्याय ९, प्रकरण 'पुरुषार्थ से ही मोक्षप्राप्ति ।'

"**समाधान** – एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं । सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमें काललब्धि **व होनहार तो कोई वस्तु नहीं है । .... सो जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है इससे मोक्ष होता ही होता है ।** (मात्र भगवान् के ज्ञान से या कथन से नहीं) । इसलिए जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्म के उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है । (कर्मसिद्धान्त में सभी परिवर्तन फेर-फार स्वीकृत हैं, उपशम, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, संक्रमण आदि) ..... जो पुरुषार्थ नहीं करते वे मोक्ष का उपाय नहीं कर सकते । उपदेश तो शिक्षामात्र है फल जैसा पुरुषार्थ करे वैसा लगता है ।"

इस प्रकार में आ. समन्तभद्र स्वामी का निम्नलिखित शाश्वत चिरन्तन अनेकान्तमय उल्लेख भी प्रस्तुतत्य है,

अबुद्धिपूर्व्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्व्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ।।

- आप्तमीमांसा 91।।

– जहाँ कार्य बिना विचारे हो जाता है वहाँ इष्ट एवं अनिष्ट अपने देव के द्वारा हुआ मानना चाहिए और जहाँ बुद्धिपूर्वक अपेक्षा है वहाँ इष्ट और अनिष्ट अपने पुरुषार्थ से निष्पन्न मानना योग्य है ।'' देव और पुरुषार्थ का यह स्पष्टीकरण सर्वत्र प्रयोज्य है । किसी भी निश्चय नय या व्यवहार का छल ग्रहणीय नहीं है । यह कथन कि ''निश्चय नय से तो होनहार ही होता है और फेर-फार हो सकता है यह तो औपचारिक व्यवहार है अर्थात् कहा है पर ''है नहीं'' मूर्खता के प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं ।

आ. ज्ञानसागरजी महाराज आगम तत्त्वों के गहन अध्येता थे । स्वयं मोक्षमार्ग पर चलते हुए अन्यों का भी हित सम्पादन उनका ध्येय था । मिथ्या नियतिवाद एवं चारित्र मोह के उपशमादि होने एवं उस स्थिति में स्वतः चारित्र प्राप्त करने की मिथ्या परिकल्पना के निरसन हेतु उन्होंने नयों के परिवेश में यथेष्ट व्याख्यान किया है । नियतिवाद की पुष्टि हेतु समयसारादि ग्रन्थों के वाक्यों के छल से अकाल मरण का निषेध भी कतिपय एकान्तिक दृष्टि से धारक करने लगे थे । आ. महाराज ने इस विषय में स्पष्टीकरण आवश्यक मानकर अपनी लेखनी का प्रयोग किया । यहाँ हम इस प्रकरण को अलग से प्रस्तुत करते हैं ।

27. अकालमरण

समयसार गाथा नं. 263 की टीका में विशेषार्थ कहते हुए आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने उल्लिखित किया है –

''प्रत्येक प्राणी का जीवन उसकी आयु के ऊपर निर्भर है । यदि आयु निःशेष हो चुकी है तो वह कभी जीवित नहीं रह सकता और अभी शेष है तो वह किसी का मारा नहीं मर सकता क्योंकि कोई भी किसी की आयु को हड़प नहीं सकता । वह तो उपभोग के द्वारा ही समाप्त होगी । हाँ, उसका उपभोग दो प्रकार से होता है उदय से और उदीरणा से । उदय से आयु का उपभोग होना समुचित मरण है और उदीरणा होना उपभोग से **अकालमरण** कहलाता है परन्तु आयु का उपभोग होकर उसकी समाप्ति होना ही चाहिए तभी मरण होगा अन्यथा नहीं । रही निमित्त की बात सो निमित्त मिलने पर भी किसी की मृत्यु नहीं होती तो किसी की साधारण निमित्त से भी मृत्यु हो जाती है और किसी के बिना निमित्त के भी । जैसा की तलवार से मर्म की चोट लगने पर भी नहीं मरता तो कोई साधारण चाकू की चोट से ही मर जाता है । तथा मरने वाला बिना चोट खाये भी मर जाता है । अतः ऐसा अनियमित निमित्त को ज्ञानी महत्त्व नहीं देता है ।

शंका – तो फिर आपके कहने में हम कुछ भी करते रहें भले ही आँख मींचकर चलें तो भी कोई दोष नहीं है ।

उत्तर – हे भाई, कुछ भी क्यों करते रहें । करना तो अज्ञान भाव है, बन्ध करनेवाला है । इसके स्थान पर यों कहो कि हम कुछ भी नहीं करें, निर्विकल्प समाधि में लगकर आत्मतल्लीन होकर नवीन बन्ध नहीं होने से ज्ञानी कहलाने के अधिकारी बने रहें उस अवस्था में चाहे कुछ भी हमारा क्या चारा है यदि कोई मरता है तो अपनी आयु की समाप्ति पर, और कोई जीवित है तो अपने आयु के बल पर, क्योंकि हमारा तो उधर उपयोग ही नहीं

है । परन्तु समाधि से च्युत होने पर यदि वहाँ विकल्प आवे तो उसे मारने का विकल्प न करके बचाने का विकल्प करना चाहिए जैसा कि बालि मुनि ने या विष्णुकुमार मुनि ने किया था ताकि कर्मबन्ध भी हो तो वह शुभ हो, अनन्त संसार के कारणभूत अशुभ कर्मबन्ध से बच जावें ।''

गाथा 274 का विशेषार्थ भी प्रयोजनीय है, ''श्री जिन शासन में मुख्य दो नय हैं - एक निश्चय नय, दूसरा व्यवहार नय । निश्चय नय स्वावलम्बी है, स्वयं आत्म-निर्भर करता है और व्यवहार नय परावलम्बी है वाह्य अन्य पदार्थों के आश्रय पर टिकता है । व्यवहार नय जो कि मुख्यतया गृहस्थों द्वारा अपनाने योग्य है - कहता है कि जब किसी के द्वारा कोई जीव मारा या पीटा जाता है, वहाँ हिंसा होती है (अकालमरण भी संभव है) क्योंकि उसके भाव को कौन जानता है कि मारने का उसका भाव था या नहीं । किन्तु निश्चय नय जो कि मुख्यतया ऋषियों के द्वारा गाह्य है अपने अधिकारियों को कहता है कि जब तुमने सर्व बाह्य परिग्रह का त्याग ही कर दिया तो फिर बाह्य हिंसा करने की आवश्यकता भी क्या रह गई, कुछ भी नहीं । परन्तु हे भाई मन बड़ा ही चपल है, अच्छा विचार करते-करते भी बुरे विचार पर आ जाता है अतः इसे सम्हाल कर रखो और दूसरों को मार डालने या दु:ख देने आदि का भी विचार कभी मत आने दो । यदि इस प्रकार के विचार भी मन में आ गये तो तुम फिर हिंसा के दोष से बच नहीं सकते । फिर तुम एकान्त निश्चयाभास का अवलम्बन लेकर की कोई किसी को मार नहीं सकता या अकालमरण नहीं होता, यह कहकर कि ''हमने किसी जीव को मारा तो है नहीं ऐसा कहने से हिंसा से छूट नहीं सकते हो ।''

निष्कर्ष – आ. महाराज के उक्त विवेचन के निम्न निष्कर्ष हैं -

1. अकालमरण का सद्भाव है आगम प्रमाण ।

''औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।'' तत्त्वार्थ सूत्र

विसंवेयण रत्तक्खय भयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं । आहास्सासाणं णिरोहदो छिज्जदो आऊ ॥25॥–भावपाहुड

इय तिरिय मणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं । अवमिच्चु महादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥27॥–भावपाहुड

- औपपादिक (देव-नारकी), चरमोत्तम देहवाले तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोग-भूमियाँ जीवों की आयु अनपवर्त्य होती है अर्थात् विष शास्त्रादिक बाह्य निमित्तों से नहीं छिदती, उनका अकालमरण नहीं होता, शेष का हो सकता है ।

- विष से, वेदना से, रक्त क्षय से, भय, शस्त्र प्रहार, संक्लेश, आहार के निरोध व श्वासोच्छवा के निरोध से (अन्य भी निमित्तों से) आयु छिद जाती है । उदीरणा को प्राप्त होकर घट जाती है ।

- हे मित्र इस प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य जन्म में चिर-काल बहुत बार उत्पन्न होकर तुमने अकालमरण का महान दु:ख पाया है ।

2. कुछ लोग कहते हैं कि निश्चय नय से अकाल मरण नहीं है, व्यवहार से है । उसका उत्तर यह है कि निश्चय नय से तो मरण ही नहीं है फिर मरण के भेद अकाल या काल मरण का प्रश्न ही नहीं है । जिस नय से (व्यवहार से) मरण है उसी दृष्टि से अकालमरण का सद्भाव है । फिर व्यवहार नय कुछ अवस्तु का कथन नहीं करता वह भी सत्य है । वह भी जिनवाणी में ही प्रयोग किया गया है ।

3. आ. अमृतचन्द्रजी ने प्रवचनसार की टीका में (अंत में) 47 नय कहे हैं उनमें कालनय, अकालनय, नियतनय, अनियतनय वर्णित किये हैं । जब अकाल में एवं अनियतरूप में कार्य होता है तभी तो ये कहे हैं । 'सव्वं' सप्पडिवक्खो के अनुसार काल है तो अकाल भी नियत है और अनियत भी ।

4. समयसार में शुद्धध्यान मूलक निरूपण की प्रधानता है बाह्य कर्त्तव्य से हटाकर अन्तर्जल्पों से भी रहित कर शुद्ध आत्मानुभव या निश्चय-चारित्र की प्रकटता का उपदेश है । अतः बाह्य हिंसा या अहिंसा दोनों ही अनवतरित होने से दोनों को समान कहा है ।

5. तर्क एवं अनुमान से तो स्पष्ट रूप से अकालमरण सिद्ध है । यदि अकालमरण न होता तो औषधिप्रयोग भी न होता, समुद्र में गिरने व आग में पड़ने का भी निषेध न होता । जीव-हिंसा करने पर भी कोई पापी न होता न दण्ड का पात्र होता और न्यायालय भी न होते । भगवान् ऋषभदेव भी दण्ड-नीति चालू नहीं रखते ।

किं बहुना क्रमबद्ध पर्याय शब्द का प्रयोग भी अवांछनीय है । नियतिवाद का एकान्तमिथ्यात्व त्याज्य है तथा अकाल मरण का भी सद्भाव है । आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने विभिन्न स्थलों पर सावधान किया है । नयों का एकान्त चाहे निश्चय का हो या व्यवहार का, पतन का कारण है ।

28. उपादान-निमित्त

इस विषय का आ. ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा किया गया निरूपण पूर्व में कुछ नय योजना के अन्तर्गत सम्यक्त्वसारशतक से ही प्रस्तुत कर चुका हूँ पुनः कुछ और भी कहने की आवश्यकता अनुभव करता हूँ । भले ही दो-चार पंक्तियों की पुनरावृत्ति क्यों न हो । दृष्टव्य है, आचार्य की शब्दावली पृष्ठ-13 ।

"बस, तो इसी प्रकार सभी प्रकार का कार्य उपादान और निमित्त दोनों की समष्टि से बनता है । उसकी निश्चय नय उपादान से बना कहता है और व्यवहार नय निमित्त से। सो तो यह ठीक है किन्तु उपादान से ही कार्य बना है निमित्त होकर भी कुछ नहीं करता, यह तो अनभिज्ञता है ।"

वस्तुस्वरूप यह कहता है कि उभयविध कारण वस्तु में कार्य की उत्पत्ति में कारण ही है, अकारण नहीं । यदि किसी एक कारण को अकारण कहा जाय तो जगत में चक्र, चीवर, धागा, पानी आदि की अनुपस्थिति में भी मिट्टी घटरूप परिणत होती हुई क्यों नहीं नजर आती । किंच यदि यों कहा जाय कि 'कुछ भी हो पर कारण तो उपादान ही है'

तो साधक कारण की उपस्थिति में तथा बाधक कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति सदा होनी चाहिए यानि सदा सब मिट्टी घटरूप परिणत हो जाना चाहिए क्योंकि उपदान कारण तो (मिट्टी रूप उपादान कारण) विद्यमान है फिर कार्य के सदा होने में क्या बाधा है ? पर कार्य सदा होते हुए तथा सब मिट्टी घटरूप परिणत होती हुई नजर नहीं आती । अतः ऐसे किसी कारणान्तर को विचारणा बुद्धिधारियों को करनी चाहिए जो कार्य हेतु (नियामक) नियमतः साधक हो । बस, ऐसे ही बाह्य कारण जो वस्तु के कार्यरूप परिणमन में अपरिहार्य हेतुता धारण करें । (जैसे दिन विकासी कमल के लिए सूर्य तथा रात्रि विकासी कमल के लिए चाँदनी अथवा घट के लिए उचित क्रिया से परिणत कुम्हार, चक्र, चीवर, उदक आदि) उन्हें निमित्त कहते हैं ।

कार्य–कारण का स्पष्टीकरण – जो किया जावे वह कार्य कहलाता है । जिस किसी के द्वारा वह किया जा सके उसे कारण कहा जाता है । कारण सम्पादक है और कार्य सम्पादनीय । अब उस कार्य के होने में वह कारण दो प्रकार का होता है एक उपादान, दूसरा निमित्त जो स्वयं कार्यरूप में परिणत होता है उसे उपादान-कारण कहते हैं । जैसे कि घट के लिए मिट्टी या उस मिट्टी की घट से पूर्ववर्त्ती पयाय । किन्तु जो खुद कार्यरूप न होकर कार्य के होने में सहकारी हो उसे निमित्त-कारण कहते हैं, जैसे घट के लिए कुम्भकार, चाक, दण्ड वगैरह ।

वह निमित्त-कारण दो तरह का होता है - एक प्रेरक और दूसरा उदासीन । प्रेरक कारण भी दो तरह का होता है, एक तो **गतिशील सचेष्ट** और **इच्छावान**, जैसे घट के लिए कुम्भकार, इसी को व्यावहारिक (व्यवहार नय से) कर्त्ता भी कहते हैं । दूसरा **सचेष्ट** किन्तु **निरीह** प्रेरक निमित्त होता है जैसे कि घड़े के लिए चाक । उदासीन निमित्त वह कहलाता है जो **निरीह** भी होता है और **निश्चेष्ट** भी जैसे कि घट के लिए चाक के नीचे रहनेवाला शंकु, जिसके सहारे पर चाक घूमता है । समर्थ कारण उपादान और निमित्तों की समष्टि (समूह) का नाम है जिसके कि होने पर उत्तरक्षण में कार्य सम्पन्न हो ही जाता है । उन्हीं के भिन्न-भिन्न रूप में यत्र-तत्र रहने को असमर्थ कारण कहा जाता है, अर्थात् वे सब कारण होकर भी उस दशा में कार्य करने को समर्थ नहीं होते हैं । प्रत्येक कार्य अपने उपादान के द्वारा उपादेय अर्थात् अभिन्न रूप से परिणमनीय होता है तो निमित्त में नैमित्तिक, अर्थात् भिन्न रूप से सम्पादनीय है ।"

पृष्ठ 7 पर भी पठनीय है, आचार्यश्री कृत श्लोक और उसकी व्याख्या -

"यत्स्यान्निमित्तं विकरोति वस्तु नैमित्तिकं विक्रियते तदस्तु ।
वाह्निघृतं द्रावयतीत्यनेन, घृतं पुनः संद्रवतीश्रियेन ॥6॥

अन्वयार्थ – (यत् वस्तु विकरोति) जो वस्तु विकार पैदा कर देती है । (तद् निमित्तं स्यात्) वह निमित्त होती है । (विक्रियते नैमित्तिकं) जिसमें विकारपना या अन्यथापना हो जाता है वह नैमित्तिक होती है । जैसे - अग्नि घी को पिघला देती है (घृतं पुनः संद्रवति) फिर घी भी पिघल जाता है इसमें अग्नि निमित्तस्वरूप है और द्रवीभूत घी नैमित्तिकरूप है।

अर्थ – जो जिस किसी को और का और कर सकता हो वह उसका निमित्त है किन्तु जो उसके द्वारा और रूप में परिणत हो जाया करता हो वह उसका नैमित्तिक होता है, जैसे - हम घृत को तपाना चाहते हैं तो उसे अग्नि पर रख देते हैं इससे वह पिघल जाता है, आग उसे पिघला देती है ।

शंका – आप यह क्या कह रहे हैं कि अग्नि घृत को पिघला देती है; नहीं, अग्नि घृत को नहीं पिघला सकती किन्तु वह अपनी योग्यता से पिघलता है ।

समाधान – ठीक है, घृत में पिघलने की योग्यता है, अग्नि (उष्णता) के द्वारा, तभी तो वह उससे पिघलता है और अग्नि में घृत को पिघला देने की योग्यता है क्योंकि उसके संयोग बिना वह पिघल नहीं पाता । यही तो निमित्त-नैमित्तिकता है । जो जिसके बिना नहीं हो पाता और जिसके होने पर हो ही जाता है उस (कारण) का वह कार्य है, ऐसा हमारे सभी आचार्यों ने माना है । जैसे कि सूर्य के न होने पर दिन नहीं होता और सूर्य के उदय में दिन हो ही जाता है, अतः सूर्य दिन होने का कारण एवं दिन उसका कार्य है यानी सूर्य के द्वारा दिन होता है ।''

आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने उपरोक्त निरूपण कितना विशद, सटीक एवं आगमानुसार किया है । धन्य है उनकी पकड़ और विषय का सूक्ष्म मंथन । हम यहाँ उनके कथन की पुष्टि हेतु कुछ आगम प्रमाण प्रस्तुत करना चाहेंगे ।

वाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतस्वभावः ।
नैवान्यथा मोक्षाविधिश्चपुसां तैनाभिवन्धस्त्वभृषिर्बुधानाम् ॥

।बृहत्स्वयंभूस्तोत्र-60।।

– हे भगवन् आपके मत में कार्य को उत्पत्ति में बाह्य (निमित्त) और इतर (उपादान) कारणों की समष्टि ही (आवश्यक) है यह प्रत्येक द्रव्य में रहनेवाला स्वभाव है इसके बिना तो मनुष्यों को मोक्ष का मार्ग ही प्राप्त नहीं होता है । इसी उपदेश के कारण आप ज्ञानियों के अभिवन्द्य हैं ।

''अन्यथानुपपत्तित्वं हेतोर्लक्षणमीरितम् ।''

– जिसके बिना कार्य सिद्ध नहीं होता वह कारण है । निमित्त के बिना कार्य नहीं होता अतः यह भी कारण है । तत्समय की योग्यता भी तो निमित्तों के सद्भाव से होती है ।

जीवपरिणाम हेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमन्ति ।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।।समयप्राभृत 86।।

– जीव परिणाम के **कारण** पुद्गल कर्मत्व को परिणमित हो जाते हैं उसी प्रकार पुद्गल कर्म के **निमित्त** से जीव भी विकार रूप परिणत हो जाता है । यहाँ आ. कुन्दकुन्द ने एक स्थान पर निमित्त और अन्य पर हेतु शब्द का प्रयोग किया है । स्पष्ट है कि निमित्त भी कारण है कतिपयजनों को निमित्त की स्वीकृति तो है; किन्तु वे उसे कारण या कार्योत्पत्ति

में अकिंचित्कर मानते हैं उनकी मान्यता आगम विरुद्ध है। निश्चय नय को मुख्य कर उपादान को किसी अवसर पर प्रधानता दी जा सकती है किन्तु व्यवहार नय का विषय निमित्त भी अपेक्षित अवसर पर महत्त्वशाली है। सम्पूर्ण उपादान-निमित्त के निरूपण को निश्चय-व्यवहार का निरूपण कह सकते हैं। जैसे - उपादान कर्त्ता अर्थात् निश्चय नय से कर्त्ता अथवा निमित्तकर्त्ता अर्थात् व्यवहार नय से कर्त्ता। पू. महाराजजी ने दोनों कारणों को एवं दोनों नयों को अपेक्षा दृष्टि से समान महत्व दिया है।

29. समयसार

यह आ. कुन्दकुन्द स्वामी की अमूल्य कृति है निर्विवाद और सर्वमान्य रूप में यह अध्यात्म का श्रद्धा केन्द्र है। इसका मूल अभिधेय शुद्धध्यान है। आत्मस्वरूप की गवेषणा नव-पदार्थों के स्वरूप अवबोध के परिवेश में आ. कुन्दकुन्द ने की है। वस्तुतत्व का निश्चय और व्यवहार से विवेचन करते हुए निश्चय-मोक्षमार्ग निर्विकल्प शुद्ध आत्मानुभूति पर पहुँचाने का यह ग्रन्थ एक अचूक उपाय है। इसकी रचना प्रमुख रूप से साधु को लक्ष्य बनाकर की गई है एतदर्थ ही इसमें पूर्व में साधक के रूप में स्वीकृत करते हुए भी व्यवहार को निश्चय के द्वारा प्रतिषेध्य कहा गया है। साथ ही व्यवहार को निश्चय के अविरोधी रूप में प्ररूपित किया गया है।

प. पू. आ. ज्ञानसागरजी महाराज समयसार के बड़े रसिक थे। उन्होंने इस ग्रन्थराज पर विवेकोदय नाम का स्वतन्त्र व्याख्या ग्रन्थ लिखा साथ ही उन्होंने समयसार की आचार्य जयसेन स्वामी की टीका का हिन्दी अनुवाद किया एवं उसका हार्द खोलने के लिए विशेषार्थ प्रस्तुत कर पाठकों को नवीन दिशा दी। समस्त विवेचन निश्चय-व्यवहार के स्पष्टीकरण की शैली में है। आ. ज्ञानसागरजी यत: संस्कृत भाषा एवं व्याकरण पर पूर्ण अधिकार रखते थे अत: किञ्चित् मात्र आवश्यकता अनुभव होने पर नयों के सम्बन्ध में संभावित भ्रम को दूर करना उनका सर्वत्र अभिप्राय रहा है। समयसार ग्रन्थ तो स्वयं ही नयों का जाल ही है कारण कि मानव मन में, विशेष तौर से श्रमण के मन में उत्पन्न होनेवाले विविध हेयोपादेय विकल्प समूह का ही तो स्वरूप उसमें प्रकट किया गया है। विकल्पों को ही नय संज्ञा दी है। कहा भी है। "विकल्पात्मका नया:।" विशिष्ट आगम ज्ञान से रहित, गुणस्थान-मार्गणास्थान से अपरिचित, नयस्वरूप से अनजान एवं विषयभोगों से संसक्त हृदयवाला यदि समयसार के हिमालय के समान नयों के नाना आरोह और अवरोहों के मध्य उतरता है तो उसका अकल्याण ही है। इसी को दृष्टिगत आचार्य ज्ञानसागरजी का नय निरूपण प्रकट हुआ है।

यहाँ उनके निश्चय-व्यवहार निरूपण पर श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करेंगे और आवश्यक प्रतित होगा तो विवेकोदय के अवशिष्ट अंश का भी समयसार में विषयवार अभीष्ट उपयोग करेंगे। कारण यह है कि 'विवेकोदय' भी समयसार का ही स्पष्टीकरण एवं अनुवाद है।

आराधक–आराधना – मंगलाचरण गाथा के विशेषार्थ में आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने आराधना और उसके नय दृष्टि से कर्त्ता की चर्चा करते हुए कहा है कि "आराधक तो हम संसारी छद्मस्थ हैं और आराध्य श्री सिद्ध भगवान् हैं । .... आराधना दो प्रकार की है (1) व्यवहार-आराधना (2) निश्चय-आराधना । वचन विकल्पात्मक व्यवहार-आराधना है और निर्विकल्प भाव में तन्मय होकर शुद्धात्मा का ध्यान करना निश्चय-आराधना है । छट्ठे गुणस्थान तक व्यवहार-आराधना होती है और सातवें से आगे निश्चय-आराधना है । इन दोनों आराधनाओं के द्वारा छद्मस्थ आत्मायें अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को क्रमशः ढीला करते हुए नष्ट कर देती है ।" यहाँ स्पष्ट है कि व्यवहार नय के द्वारा मान्य वचनात्मक आराधना भी निर्जरा का समर्थ कारण है । यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि परम शुद्धनय की अपेक्षा तो आराध्य-आराधक भाव ही नहीं है ।

३०. निश्चय व्यवहार स्वरूप की व्यापक चर्चा

समयसार पृष्ठ 9, विशेषार्थ के अन्तर्गत -

"दर्शन, ज्ञान और चारित्र को भिन्न-भिन्न कर बतलाया गया है वह सद्भूत व्यवहार नय से बतलाया गया है । सद्भूत व्यवहार नय का काम है कि जो गुण-गुणों के साथ अभिन्न होकर रहते हैं उनको भिन्न-भिन्न कर बतलाये ।"

अगली गाथा – "आचार्य देव ने यहाँ व्यवहार की उपयोगिता बतलाई है कि व्यवहार के बिना निश्चय का कथन नहीं किया जा सकता और न उसे समझाया ही जा सकता है । अतः निश्चय को समझने के लिए व्यवहार का उपदेश परमावश्यक है । इसके साथ यह भी बतलाया है कि व्यवहार नय का उपदेश देने के अधिकारी भी मुनि है जो कि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के तत्त्वों को जाननेवाले हैं ।"

इसके समर्थन में आ. अमृतचन्द्रजी का निम्न श्लोक प्रस्तुत है -

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ।पु. सि. 4 ॥

गाथा नं. 13 विशेषार्थ - "यहाँ तात्पर्यवृत्तिकार ने इस गाथा का अर्थ दो प्रकार से किया है । एक तो यह कि व्यवहार नय तो अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है जो कि अमृतचन्द्र आचार्य द्वारा भी सम्मत है; किन्तु इन्हीं आचार्य ने गाथा के 'दु' शब्द को लेकर दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया है कि व्यवहार नय भूतार्थ व अभूतार्थ दो प्रकार है, इसी प्रकार निश्चय नय भी शुद्ध-निश्चय नय और अशुद्ध-निश्चय नय के भेद से दो प्रकार है उसमें भूतार्थ को आश्रय करनेवाला सम्यग्दृष्टि होता है ।

यहाँ पर भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ और अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया है किन्तु यहाँ पर असत्यार्थ का अर्थ सर्वथा विस्तार नहीं लेना चाहिए, किन्तु 'अ' का अर्थ ईषत् (अल्प) लेकर व्यवहार नय अभूतार्थ अर्थात् तात्कालिक प्रयोजनवान् है ऐसा लेना चाहिए। जैसा कि स्वयं जयसेनाचार्य ने भी अपने तात्पर्यार्थ में बतलाया है ।

किंच भूत शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा के विश्वलोचन कोष में जिस प्रकार सत्य बतलाया है उस प्रकार उसका अर्थ सम भी बतलाया है । अतः भूतार्थ का अर्थ जब कि सम होता है अर्थात् सामान्य धर्म को स्वीकार करनेवाला है तो अभूतार्थ का अर्थ विषम अर्थात् विशेषता को कहनेवाला अपने आप हो जाता है जिससे व्यवहार नय अर्थात् पर्यायार्थिक नय और निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिक नय इस प्रकार अर्थ अनायास ही निकल आता है। जोकि इतर आचार्यों के द्वारा भी सर्व सम्मत है ।''

यहाँ हम पाठकों का ध्यान आ. अमृतचन्द्रजी के उदाहरण पर आकर्षित करना चाहेंगे उन्होंने कहा है कि जब हम जल से सम्पृक्त अवस्था की दृष्टि से देखते हैं तो यह (व्यवहार कथन) सत्यार्थ है कि 'कमल जल में है' और जब हम जल से असम्पृक्त दशा (जल को अपनी दृष्टि से ओझल कर) को देखते हैं तो 'कमल जल में है' यह कथन असत्यार्थ है वहाँ निश्चय नय का कथन 'कमल जल में नहीं है' सत्यार्थ है ।

जिस प्रकार लहरों को दृष्टिगत करने पर यह लक्षित होता है कि 'समुद्र अशांत है' यह सत्यार्थ है और जब लहरों से दृष्टि हटाकर मात्र समुद्र पर लक्ष्य होता है तो समुद्र शान्त है यह कथन सत्यार्थ है, उसी प्रकार दोनों दृष्टियाँ निश्चय और व्यवहार अपने-अपने विषय की दृष्टि से सत्यार्थ है और अपने-अपने अविषय या अप्रयोजन की दृष्टि से असत्यार्थ हैं। नय तो शब्द है उनमें भूतार्थता-अभूतार्थता स्वयं की कुछ नहीं है वह तो वस्तुतः प्रयोजन की ही भूतार्थता - अभूतार्थता है, नयों को व्यर्थ ही गेहूँ के साथ घुण के पिस जाने जैसी बात है । पू. आ. ज्ञानसागरजी ने आ. जयसेन स्वामी के इस कथन ''व्यवहार नयः .... नः अधस्तनवर्णिक - सुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति ।'' आदि पर विशेषार्थ का कथन कि है, गौर करें पृष्ठ 16 (गाथा 14) - ''आचार्य के कथन का तात्पर्य यह है कि संयत मनुष्य जब अभेदात्मक परम समाधि में तल्लीन होकर रहता है उस समय वह शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करनेवाला है किन्तु उससे नीची अवस्था में, क्या संयत, क्या संयतासंयत क्या असंयत सम्यग्दृष्टि ये सभी व्यवहार नय में प्रवृत्त रहते हैं उसके बिना उसका निर्वाह नहीं हो सकता एवं क्षयोपशम ज्ञान का धारी संयमी मनुष्य भी जब तक समाधि में स्थिर है तब तक वह शुद्धोपयोगी है किन्तु इतर काल में वह शुभोपयोगी होता है पर संयता-संयत और (अविरत) सम्यग्दृष्टि तो शुभोपयोगी ही होते हैं किन्तु उनकी तो शुद्धोपयोगी तक पहुँच भी नहीं है ।'' गाथा नं. 14 की पूरी संस्कृत टीका आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति पठनीय है ।

इस विषय में हम सराग-वीतरागचारित्र के प्रकरण में भी वर्णन कर चुके हैं कुछ पुनरावृत्ति या पिष्टपेषण हो तो पाठक क्षमा करें । विवशता यह है कि जैसे आटा पीसते समय कुछ रवा या दलिया बनकर आटा मोटा हो जाता है तो पुनः उसको फिर गेहूँ के साथ मिलाकर पीसना अनिवार्य हो जाता है उसी प्रकार हमें आ. ज्ञानसागरजी महाराज के अवशिष्ट आशय का स्पष्टीकरण करने हेतु कुछ पूर्व कथित विषय या शब्दों का सहारा लेना आवश्यक हो गया है । कारण यह है कि उनके विभिन्न ग्रन्थों में नवीन-नवीन समाधानों की झड़ी लगी हुई प्राप्त होती है । पुनश्च यथा ग्वालिनी मक्खन निकालने हेतु दही को

फेराफेर-फेराफेर लगी रहती है उसे सन्तोष नहीं होता, थोड़ा जल भी छींटती है, कोलाहल भी उत्पन्न करती है उसी प्रकार पू. ज्ञानसागरजी महाराज के नय विवेचन को हम भी यहाँ मथामथ लगे हुए हैं, अमृत ही अमृत छलक रहा है, झलक रहा है । थोड़ा इधर-उधर का सन्दर्भ जल भी छींट रहे हैं परन्तु सन्तोष नहीं हो रहा है और झलकते हुए अमृत को आखिर प्राप्त तो करना ही है । निरूपण की विशेषताओं का यह छलकाव मानों स्वयं व्यवहार नय का रूपक ही प्रकट हलचल (क्रिया) रूप में है तथा झलकाव (निश्चल तत्त्व, अन्तरंग चमक) मानों निश्चय नय के रूप में प्रस्तुत है । उनके निरूपण में दोनों ही समान अधिकार प्राप्त हैं । कहा भी है "उभयनयायत्ता हि पारमेश्वरी देशना" । उनके नय दर्पण में जितना झांकेंगे उतना ही आनन्दामृत में विभोर होने पर सौभाग्य प्राप्त होगा । जितना उनके कथन की गहराइयों में उतरेंगे उतना ही रत्न संचय करने में समर्थ होंगे । जैसे चटनी को जितना बांटते जायेंगे (पीसते जायेंगे) उतना ही स्वाद प्राप्त होगा । इसके अतिरिक्त हम न तो सूक्ष्म रुचि हैं, न मध्यम रुचि, हम तो विस्तार रुचि वक्ता, श्रोता हैं, अतः हमें पिष्ट-पेषण का भय नहीं है न लज्जा ही है । गुरुओं का प्रसाद प्राप्त है । पू. ज्ञानसागरजी महाराज हमें स्वर्ग से आशीर्वाद और प्रोत्साहन दे ही रहे हैं क्योंकि हम उनके ही काम को अग्रसर कर रहे हैं, हम तो पीछे हैं हमारे नायक तो पू. मुनिराज सुधासागरजी महाराज हैं । उन्हीं का संबल ही मार्गदर्शक है ।

ऊपर हमने व्यवहार-निश्चय की भूतार्थता-अभूतार्थता की चर्चा की थी । इसी विषय को ग्राह्यता के परिवेश में आ. कुन्दकुन्द की गाथा नं. 19 का विवेकोदय में आ. श्री ज्ञानसागरजी महाराज का पद्यानुवाद एवं भाषा व्याख्यान रूप निरूपण दृष्टव्य है । इसमें अंत में सारांश रूप में दोनों नयों का विषय तादात्म्य लिए हुए कथंञ्चित् अभिन्न कहा गया है ।

दसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि आप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥19॥

- समयप्राभृत

पद्यानुवाद –

"आपा पर का भेद जहाँ तक भी विचार में बना रहे ।
सम्यग्दर्शन बोध वृत्त के पालन में मन सना रहे ॥
यह तो है व्यवहार और निश्चय नय का है यह बाना ।
और सभी को भुला आपका अपने में ही लग जाना ॥16॥

"मुमुक्षु को चाहिए कि वह द्वैतभाव से अद्वैत आत्मभाव पर आने की कोशिश अवश्य करें, परन्तु जब तक कि अपने उपयोग में आपा पर का कुछ जरा-सा भी भेद-भाव विद्यमान हो यह मेरा और यह पराया अथवा यह मैं और यह पर इस प्रकार अपने आपके साथ-साथ पर का भी भान हो रहा हो उसे पूरी तौर से भुला न पाया हो तब तक निरन्तर पूरी कोशिश के साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र भेदरूप रत्नत्रय (व्यवहार-रत्नत्रय) को अङ्गीकार किये ही रहना चाहिए । उसे व्यवहार समझकर छोड़ नहीं बैठना चाहिए । क्योंकि

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा के ही तो स्वरूप हैं । पर को पर समझते हुए उसे छोड़ते चले जाना और अपने आपकी तरफ रूख की ओर कदम बढ़ाते चले जाना इसी का नाम तो रत्नत्रय है और इस प्रकार करते-करते अन्त में और सब-कुछ को भूल कर अपने आप में ही तन्मय हो लेना यही तो निश्चय नय का स्वरूप है जो कि साध्य है व्यवहार उसका साधन है, साधन के बिना साध्य कहाँ । दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । दोनों ही नय वस्तुगत अपने-अपने योग्य धर्म को विषय करनेवाली हैं । निश्चय नय सामान्य को ग्रहण करती है तो व्यवहार नय उसके विशेष को एवं दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है । वस्तु का सामान्य (धर्म) व्यापक है तो विशेष व्याप्य । सामान्य एक तरह से जनक है तो विशेष धर्म, जन्य । दोनों पिता-पुत्र की भाँति होते हैं । आदमी अपने पिता की सन्तान होता है तो अपने पुत्र का जनक भी । इसी तरह अवान्तर सत्ता, महासत्ता सामान्य का विशेष होती है परन्तु प्रत्यवान्तर सत्ता के लिए वही सामान्य भी ठहरती है । गो पशु का भेद है किन्तु धवल और धेनु के लिये वही सामान्य भी ठहरती है एवं व्यवहार और निश्चय दोनों नयों का विषय कथञ्चित् एक ही हो जाता है । अतः एकदम व्यवहार नय की उपेक्षा कर देना ठीक नहीं है क्योंकि निश्चय नय का परिचायक भी व्यवहार ही है ।''

आ. महाराज ने समयसार गाथा नं. 32 के भाव का हार्द खोलते हुए लिखा है, (विवेकोदय) ''केवली के शरीर का वर्णन करना सो व्यवहार नय से केवली का वर्णन ही हो जाता है क्योंकि व्यवहार नय से शरीर और आत्मा को एक माना गया है - ''ववहारणओं भासदि जीवों देहो य हवदि खलु एक्को'' ऐसा श्री समयसारजी में खुद कुंदकुंद स्वामी कहते हैं। अतः शरीर और आत्मा को एक कहना ''व्यवहार नहीं किन्तु दुर्व्यवहार है, कुनय है, घोर मिथ्यात्व है'' ऐसा कहनेवाले लोग तो स्वामी कुन्दकुन्द को भी उल्लंघन कर जाते हैं । व्यवहार नय संयोग सम्बन्ध का वर्णन करने वाला है, व्यवहार नय से आत्मा और देह एक है, इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर और आत्मा में संयोग सम्बन्ध है सो ऐसा कहना ठीक ही है । अब जो लोग इसे इसे दुर्व्यवहार या कुनय कहकर गलत बतलाते हैं उनके कहने का तो यह अर्थ हो जाता है कि शरीर का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध भी नहीं है (सर्वथा भिन्न हैं) सो इस कहने को कोई भी समझदार नहीं मान सकता क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध है, निर्विवाद है उसको इन्कार करना तो निरा मूर्खपन है । हाँ, शरीर और आत्मा में तादात्म्य मानना (सर्वथा एक मानना) वस्तुतः एक समझना निश्चयनय से भी एक ही कहते रहना जरूर भूल है जैसा कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है और ऐसा ही इतर प्रामाणिक जैनाचार्यों ने भी माना है उसको ध्यान में लेकर अगर कोई अपनी तरफ से अण्ट-सण्ट कहे तो कहा करो ।''

आ. ज्ञानसागर का उक्त विवेचन बड़ा ही मार्गदर्शक है इस विषय में उन्होंने अन्य आचार्यों का सन्दर्भ संकेतित किया है सो समयसार कलश नं. 27 में आ. अमृतचन्द्र ने भी यही भाव व्यक्त किया है,

''एकत्वं व्यवहारतो न पुनः कायात्मनोर्निश्चयात् ॥''

अनेकान्त में जो आत्मा शरीर की एकता व अनेकता दोनों स्वीकृत

पू. महाराजजी ने अजीवाधिकार गाथा 51 की टीका में एतद्विषयक पं. जयचन्दजी का भावार्थ प्रस्तुत किया है, प्रयोजनीय है -

"परमार्थ नय तो जीव को शरीर और राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। यदि इसी का एकान्त किया जावे तब शरीर तथा राग-द्वेष-मोह पुद्गलमय ठहरे और तब पुद्गल के घात से हिंसा नहीं हो सकती और राग-द्वेष-मोह से बन्ध नहीं हो सकता इस प्रकार परमार्थ से (निश्चय नय के एकान्त से) संसार और मोक्ष दोनों का अभाव हो जायेगा। ऐसा (इसलिए) एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तुरूप ही है इसलिए व्यवहार का उपदेश न्यायप्राप्त है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मेटकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।"

आ. अमृतचन्द्रजी का निम्न कलश मैं यहाँ अवश्य उद्धृत करना चाहूँगा।

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदिसमयसार ते परमज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्ण मीक्षन्त एव ॥4॥

- जिनवचन स्याद्वादरूप है, जहाँ दो नयों (निश्चय-व्यवहार) के विषय का विरोध है, जैसे कि जो सत्‌रूप होता है वह असत् रूप नहीं होता, जो एक होता है वह अनेक नहीं होता, जो नित्य होता है वह अनित्य नहीं होता, जो भेदरूप होता है वह अभेदरूप नहीं होता, जो शुद्ध होता है वह अशुद्ध नहीं होता इत्यादि नयों के विषयों में विरोध है- वहाँ जिनवचन कथञ्चित् विवक्षा से सत्-असत् रूप, एक अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप जिस प्रकार विद्यमान वस्तु है उसी प्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, असत् कल्पना नहीं करता। जिनवचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों में, प्रयोजनवश शुद्ध द्रव्यार्थिक नय को मुख्य करके उसे निश्चय कहते हैं और अशुद्ध द्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिक को मुख्य करके व्यवहार कहते हैं, ऐसे जिनवचन में जो पुरुष रमण करते हैं वे इस शुद्ध आत्मा को यथार्थ प्राप्त कर लेते हैं अन्य सर्वथा एकान्तवादी सांख्यादिक उसे प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि वस्तु सर्वथा एकान्त पक्ष का विषय नहीं है तथापि वे एक ही धर्म को ग्रहण करके वस्तु की असत्य कल्पना करते हैं जो असत्यार्थ है, बाधासहित मिथ्यादृष्टि है।

31. व्यवहार भी उपादेय

पूर्व में हमने पू. आ. ज्ञानसागरजी के व्यवहार और निश्चय की भूतार्थता और अभूतार्थता विषयक निरूपण को प्रस्तुत किया है वहाँ व्यवहार नय को यथा-पदवी सत्यार्थ व प्रयोजनवान् निरूपित किया गया है इसके समर्थन में पं. जयचन्दजी छाबड़ा का स्पष्टीकरण व गाथा नं. 12 का भावार्थ उद्धृत है,

"जहाँ तक शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई वहाँ तक जितना अशुद्धनय का कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान है । जहाँ तक यथार्थ ज्ञान श्रद्धान की प्राप्ति रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनों को सुनना, धारण करना तथा जिनवचनों को कहनेवाले श्री जिन-गुरु की भक्ति, जिन-बिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्व कथित कार्य, परद्रव्य का आलम्बन छोड़ने रूप अणुव्रत-महाव्रत का ग्रहण, समिति गुप्ति और पञ्च परमेष्ठी का ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करनेवालों की संगति एवं विशेष जानने के लिए शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहार मार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरों को प्रवर्तन कराना ऐसे व्यवहार नय का उपदेश अङ्गीकार करना प्रयोजनवान है । व्यवहार नय को कथञ्चित् असत्यार्थ कहा गया है किन्तु कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोग रूप व्यवहार को ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है इसलिए उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादिक गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा । इसलिए शुद्धनय का विषयभूत साक्षात् जो शुद्धात्मा है उसकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान है। ऐसा स्याद्वाद मत में श्री गुरुओं का उपदोश है ।"

32. व्यवहार से निश्चय एवं निश्चय से व्यवहार

आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने समयसार की गाथा संख्या 63-65 का विशेषार्थ लिखते हुए कहा है -

"बात यह है कि शुद्धनय तो शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप है । यहाँ गुणस्थानादि न झलक कर मात्र ज्ञाता - दृष्टापन ही झलकता है और उसी का अनुमनन और चिन्तन होता है । किन्तु जहाँ ध्यानस्वरूप निश्चय नय का अवलम्बन छूटा कि साधक को कर्त्तव्यशीलता पर आकर कि "मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना चाहिए ? मैं मुनि हूँ और छट्ठे गुणस्थान की अवस्था में हूँ अत: मुझे स्तवन आदिक षट् आवश्यक करना चाहिए इत्यादि विकल्पों को अपनाना होता है । किन्तु व्यवहार सम्पन्न कर फिर ध्यान-स्वरूप निश्चय पर पहुँचता है । वहाँ थक जाने पर फिर व्यवहार में आता है । इस प्रकार अभ्यास दशा में साधक को निश्चय से व्यवहार और व्यवहार से निश्चय पर बार-बार जाना-आना होता है । इसी को लक्ष्य रखकर आचार्य देव ने दोनों नयों का व्याख्यान किया है और दोनों को अपने-अपने स्थान पर उपयोगी दिखलाया है । इस प्रकार अभ्यास द्वारा अशुद्धता को दूर कर शुद्धता पर आना यह प्रत्येक साधक का मुख्य कर्त्तव्य है ।"

आगम भाषा में इसी को सातवें से छट्ठे तथा छट्ठे से सातवें गुणस्थान का परिवर्तन कहा है । परमार्थ से तो अर्थात् परम शुद्ध निश्चय की दृष्टि से तो यत: ज्ञानचेतना का सद्भाव बारहवें गुणस्थान में अध्यात्म में निरूपित किया है अत: निश्चय-मोक्षमार्ग अथवा कारण समयसार वहीं प्रकट माना है । (पंचस्तिकाय)

33. ज्ञानी का स्वरूप

वर्तमान में अध्यात्म शास्त्रों का अध्ययन कर मात्र उसी के बल पर स्वयं को या स्वयं के समान विचारवालों को ज्ञानी कहकर व्यक्ति कल्पित आत्मतोष का अनुभव कर पतन को प्राप्त होता है जैसा कि पं. बनारसीदासजी ने आप बीती में स्वीकार किया है । समयसार का दुरुपयोग कर निश्चय नय के एकान्त से उनकी बुद्धि भ्रमित हो गई थी एवं वे अपने को ज्ञानी व शुद्धोपयोगी आत्मस्वादी मानने लगे थे, परन्तु गोम्मटसार का सुखद व्याख्यान उन्हें अनेकान्त की स्वीकृति पर ले आया । निश्चयैकान्त से भ्रमित अपनी दशा का चित्रण करते हुए उन्होंने अर्द्धकथानक में लिखा,

''.... करैं सदा नियत रस पान''
''करनी को रस मिटि गयो मिल्यो न आतम स्वाद ।
भई बनारसि की दसा जथा ऊँट को पाद ॥''

न इधर के रहे न उधर के, इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टाः वाली कहावत चरितार्थ हो गई। भ्रम दूर होने पर उन्होंने जो लिखा वही प्रामाणिक स्वयं स्वीकार किया । पूर्व की रचनायें उन्होंने समाप्त कर दी ताकि दुरुपयोग न हो । स्याद्वाद दृष्टि जागृत होने पर रचित समयसार नाटक आदि को उन्होंने लिखा । उन्होंने स्वयं उल्लेख किया -

''अब सब भई कवीसुरी स्यादवाद परवान ।''

उपरोक्त बात को दृष्टिगत कर आ. ज्ञानसागर महाराज ने समयसार के ज्ञानी का चित्रण करते हुए स्पष्ट किया है, पृष्ठ 73

''**विशेषार्थ** – यहाँ अज्ञानी से ज्ञानी कब होता है यह बतलाते हुए आचार्य ने बतलाया है कि जब तक यह क्रोधादिक भाव किसी भी रूप में करता रहता है तब तक अज्ञानी है किन्तु जब क्रोधादि रूप आर्त्तरौद्र भाव से रहित होकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है उस समय ज्ञानी बनता है तब उसके तन बन्ध नहीं होता । सारांश यह है कि जब यह अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होता है तब ही ज्ञानी होता है । ..... जिस संयत के सारे प्रमाद नष्ट हो गये और जो समग्र ही महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण तथा शील से युक्त है, शरीर और आत्मा के भेदज्ञान में तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यान में निरन्तर लीन रहता है वह ज्ञानी है और जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी पर आरोहण नहीं करता तब तक स्वस्थान अप्रमत्त रहता है यही बात परमात्मप्रकाश में भी कही है,

देह विभिण्णउ णाणभउ जो परमप्पु णिएइ ।
परमसमाहि परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥

अर्थात् जो जीव परमसमाधि में स्थित होकर देह से रहित मात्र ज्ञानमय परमात्मा का अनुभव करता है अर्थात् तन्मय होकर रहता है वही पण्डित अर्थात् ज्ञानी होता है । (पृष्ठ 74) ''विशेषार्थ - आचार्यदेव ने यहाँ पर ज्ञान शब्द से उसी ज्ञान को लिया है जो कि

वैराग्य पूर्ण हो, सांसारिक विषय-वासना रूप झंझटों में सर्वथा दूर हो और शुद्धात्मस्वभाव में तल्लीन रहनेवाला हो अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को सम्यग्ज्ञान शब्द से लिया है जो कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था में होता है और इतर आचार्यों ने जो रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बताया है इससे पृथक् नहीं है ।''

उपरोक्त विश्लेषण अपने आप में समयसार के निश्चय-प्रमुख अभिप्राय: से कितना सटीक और सुष्ठु है । धन्य है आ. ज्ञानसागरजी की विषय-गंभीरता । इस सम्बन्ध में इसकी पुष्टि हेतु कुछ उद्धरण देता हूँ,

'णाणी रागप्पजहो' (ज्ञानी राग का परित्यागी है) आ. कुन्दकुन्द (स. पा. 229)

''सद्दव्वरओ समणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण'' - स्वद्रव्य में लीन साधु ही निश्चय से सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है । आ. कुन्दकुन्द (मोक्ष पा. 14)

'परमाणु मित्तयंपि हु ..... । गाथा 211-212 । अर्थात् परमाणुमान रागी ज्ञानी नहीं है ।

''ज्ञानकला जिनके हिय जागी ते जगमाँहि सहज वैरागी ।
ज्ञानी मगन विषय सुख माहीं यह विपरीतसंभवै नाहीं ।।'' समयसार नाटक।।

''सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्य शक्तिः'' ।कलश-136 ।।

- सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है । अकेले ज्ञान से बिना वैराग्य के ज्ञानी नहीं होता ।

वस्तुत: समयसार का ज्ञानी और रत्नकरण्ड का ज्ञानी सम्यग्दृष्टि दोनों निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा से हैं, वे क्रमश: वीतराग एवं सराग हैं । व्यवहार नय को हेय कहते हुए एवं निश्चय को उपादेय कहते हुए भी जो गृहस्थ समयसार के अनुसार भी अपने को भ्रम से ज्ञानी और बन्धक मान बैठता है उसने तो अध्यात्म में प्रवेश ही नहीं किया है और वह अधिकारी भी नहीं है । दरअसल वह व्यवहार सम्यग्दृष्टि ही नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व के आठ अंगों का पालन नहीं करता । वह तो व्यवहार या व्यवहाराभास को ही निश्चय मान बैठा है । कहा भी है -

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयति ।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ।।

- पु. सिद्धि-50 ।।

- निश्चय को न समझकर जो अपनी भ्रामक एकान्त मान्यता को ही निश्चय से स्वीकार किये है वह करण (परिणाम या करणानुयोग) और आचरण (चरणानुयोग क्रिया) दोनों को नाश करता है वह बहिरात्मा प्रमादी अज्ञानी है ।

इत्यलम् किं बहुना आत्मनिन्दा, स्वलघुता को स्वीकार करनेवाला मुमुक्षु विषय विरक्ति युक्त ज्ञानाभ्यास से ज्ञानी बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ करता है । आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने वाङ्मय में इस विषय का सुष्ठु निरूपण किया है । इस प्रकरण में उनकी व्यवहार से व निश्चय से की गई ज्ञान की व्युत्पत्ति दृष्टक है । गाथा नं. 178 का विशेषार्थ -

गाथा नं. 978 का विशेषार्थ –

(व्यवहार नय से) 'यथावस्थितं अर्थ जानातीति ज्ञानं' अर्थात् पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसको उसी रूप में जानना, यथार्थ तत्त्वज्ञान ज्ञान है ।

(निश्चय नय से) ''आत्मानं जानाति अनुभवतीति ज्ञानं'' अर्थात् अपनी आत्मा को जानना अनुभव करना ज्ञान है । समयसार में जो वर्णन है वह गृहस्थ (व्यवहार) सम्यग्दृष्टि को लेकर नहीं किन्तु (श्रमणों में) वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेकर किया है यह बात समयसार में सर्वत्र ध्यान रखने योग्य है । प. पू. आ. विद्यासागरजी महाराज की निम्न पद्यानुवाद पंक्तियों का अवलोकन करें -

ज्ञानी कभी न भजते व्यवहार व्याधि,
हो निर्विकल्प, तजते न सुधी समाधि ।
होते विलीन परमार्थ पदार्थ में हैं,
काटे कुकर्म बस साधु यथार्थ में है ॥163॥

स्पष्ट है कि साधु यथार्थ ज्ञानी है ।

आ. ज्ञानसागरजी ने समयसार के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार की गाथा नं. 431 के विशेषार्थ में निश्चय-व्यवहार का जो निरूपण किया है उससे आहारक-अनाहारक, मूर्त्त-अमूर्त्त आदि विषयों का सम्यक् स्पष्टीकरण होता है । ज्ञातव्य है,

''आत्मा निश्चय नय की दृष्टि में तो सदा शरीर रहित है । अब जो मुनि निश्चय नय पर आरूढ़ होते हैं अर्थात् आत्म-समाधि में लगकर अपने शुद्धात्मा का अनुभव करने लगते हैं तो वहाँ आत्मा अमूर्त्त है, शरीर रहित है और जब शरीर ही नहीं है तो फिर किसी भी प्रकार के आहार ग्रहण की आवश्यकता ही क्या है । इसलिए आहार ग्रहण करना तो दूर रहा वहाँ इसकी बात भी नहीं है जिसका यहाँ वर्णन किया गया है । हाँ, जब वे व्यवहार दृष्टि में आते हैं तब उन्हें शरीर के संयोग को लक्ष्य में लेकर आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है तो वहाँ आचार शास्त्र विधानानुसार समुचित आहार ग्रहण करते हैं जिसका कथन हाँ पर गौण है हाँ, इस निश्चय और व्यवहार को ठीक नहीं समझने वाले कुच भाई ऐसा कह दिया कहते हैं कि आहार करते हुए भी आत्मा आहार नहीं करता क्योंकि आत्मा अमूर्त्तिक है । आहार तो शरीर ग्रहण करता है । सो शरीर तो जड़ है उसकी ओर से तो चाहे कैसा भी हो कोई बात नहीं है । ऐसा कहनेवालों को यह सोचना चाहिए कि निश्चय नय में शरीर वस्तु ही क्या है जो कि आहार को ग्रहण करता है । शरीर तो पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है जो कि संयोगात्मक होने से व्यवहार नय का विषय है । अतः निश्चय नय में तो आहार ग्रहण करने की बात ही नहीं बनती है । जब आत्मा व्यवहार नय पर आता है अर्थात् समाधि से च्युत होता है तो शरीर के साथ संयोग होने से शरीर की स्थिति रखने के लिए शरीर के द्वारा समुचित आहार ग्रहण करता है ऐसा यहाँ तात्पर्य है । किंच कर्माहार की अपेक्षा से देखें तो स्पष्ट शुद्धात्मा सिद्ध भगवान् ही अनाहारक हैं और सभी संसारी आत्मा

सदा आहारक ही हैं । नोकर्म आहार की अपेक्षा विग्रहगति समापन्न जीव भी अनाहारक होता है, कवलाहार की अपेक्षा से संयत आत्मा जब अप्रमत्त दशा में होता है तब तक अनाहारक होता है किन्तु जब आहार ग्रहण करता है तब भी वह इन्द्रिय संपोषण के लिए नहीं करता किन्तु धर्मध्यान में लगे रहने के लिए करता है इसलिए उपचार से अनाहारक ही कहा जाता है ।''

इस विषय में यह गाथा अवश्य पठनीय है -

अक्खामक्खणमित्तं रिसिणो भुञ्जन्ति पाण धारण णिमित्तं ।
पाणा धम्मणिमित्तं धम्मं हि चरन्ति मोक्खट्ठं ॥

(उद्धृत भग. आरा.)

- ऋषिगण अक्षमृक्षण मात्र भोजन प्राण धारण करने हेतु करते हैं प्राणों को धर्म के निमित्त धारण करते हैं एवं धर्म का आचरण मोक्ष के लिए करते हैं । यदि इन्द्रिय-विषय पोषण हेतु भोजन किया जाता है तो वह अवश्य ही आहार ग्रहण करना वास्तविक है भले ही वह व्यवहार नय का विषय हो । निश्चय नय का यह वाक्य कि आत्मा भोजन नहीं करता वह स्वरूप की दृष्टि से है उसका प्रयोजन भोजन का त्याग करने के लिए है, छल के लिए नहीं । इच्छापूर्वक भोजन करना और कहना कि मैं भोजन नहीं करता, शरीर करता है, निश्चय नय का दुरुपयोग है । निश्चय नय तो निश्चय ही मोक्ष पर चलने की प्रेरणा करता है ।

34. कर्त्ता कर्म भाव

लोक में जो कुछ दृश्यमान होता है वह सब कार्य है, कर्म है उसको जो उपादान रूप से या निमित्त रूप से सम्पन्न करता है वह कर्त्ता होता है । यहाँ हम आत्मा के कर्त्तापन और उसके कर्म की चर्चा समयसार, प्रवचनसार और विवेकोदय के माध्यम से करेंगे । आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने इस विषय में अपने इन तीन ग्रन्थों में क्या नय प्ररूपणा की है यह इस शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत करने का प्रयास रहेगा । यहाँ पुद्गल और आत्मा की अनादि से संश्लेषता के कारण पुद्गल कर्म का भी अवश्यंभावी नय दृष्टि से निरूपण होगा ।

पू. आ. ज्ञानसागरजी ने इस विषय को स्वरचित निम्न श्लोकों में प्रकट किया है-

विकरोति स कर्मायं रागद्वेषादिरूपतः ।
तत्र सञ्चीयते कर्म नूतनं भावानुसारतः ॥प्रवचनसार 229॥
कर्म नाम विकारस्य यत्र भूतार्थके नये ।
तत्र जीवो न कर्त्तास्तु पौद्गलिकस्य कर्मणः ॥30॥

हिन्दी पद्यानुवाद -

है अनादि से कर्मयुक्त इससे विकार परिणाम धरे ।
ताकि पुनः कर्म प्रयोग इस चेतन से सम्बन्ध करे ॥

कर्म नाम परिणाम और परिणाम तथा परिणामी में ।
भेद कौन यों जीव नहीं कर्त्ता कर्म का सुवासी में ॥15॥

यहाँ आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि विकार या परिणाम कर्म है और परिणमन करनेवाला कर्त्ता है, निश्चय नय से वे एक हैं । आ. अमृतचन्द्रजी ने भी कहा है -

यः परिणमति स कर्त्ता यः परिणामों भवेन्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।।सम. कलश 51॥

सारांश यह है कि कर्त्ता, कर्म और क्रिया निश्चय नय की दृष्टि में अभिन्न है । उक्त सम्पूर्ण विषय का सारांश आ. महाराज ने निम्न प्रकार प्रकट किया है ।

प्रवचनसार पृष्ठ 75

"जब यह आत्मा रागद्वेषादि सहित होता है तब कर्मरूप में होने योग्य पुद्गल वर्गणाओं का संग्रह करता है । यही संसार का मूल कारण है । इस पर यह पूछा जा सकता है कि आत्मा में राग-द्वेष उत्पन्न होने का भी कोई-न-कोई कारण विशेष होना चाहिए क्योंकि राग-द्वेष आत्मा के सहज भाव नहीं माने जा सकते हैं । इसका उत्तर यह है कि उन संगृहित कर्मवर्गणाओं के साथ में तन्मयता का होना ही राग-द्वेष को पैदा करनेवाला है । यह तो एक-दूसरे के भरोसे पर होने से निस्सार प्रतीत होता है ।"

"यहाँ प्रसंग पाकर आचार्य श्री (कुन्दकुन्द) ने कर्म क्या है और उनका कर्त्ता कौन है ? इस पर प्रकाश डाला है । व्याकरण शास्त्र में क्रिया के करनेवाले को कर्त्ता और उसके द्वारा किया जावे उसे कर्म कहा गया है । कर्म का ही दूसरा नाम कार्य भी है । यह हम लोगों के नित्य के अभ्यास में अभिन्न रूप से और भिन्न रूप से (सिद्धान्त में निश्चय नय से और व्यवहार नय से) दो तरह से देखने में आता है । जैसे कहा गया कि रामलाल ने लालच दिया अत: वह झूठन भी चाट गया । यहाँ कहनेवाला एक रामलाल है और उसके कार्य दो हैं । एक लोभ करना और दूसरा झूठन चाट जाना । लालच तो रामलाल का परिणाम (भाव) है । यह उससे अभिन्न है, पृथक् नहीं है और झूठन उससे भिन्न वस्तु है जिसे वह चाट गया । ऐसे ही आत्मा जब रागद्वेषादि सहित होता है तब वह कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करता है । रागद्वेषादि करना निश्चय नय (अशुद्ध) से आत्मा का कार्य है, कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करना व्यवहार नय से आत्मा का कार्य है ।

यहाँ भी राग-द्वेष आत्मा का विकारीभाव है जो आत्मा के द्वारा किया जाता है । अत: यह भाव आत्मा का कर्म है यह आत्मा से अभिन्न होता है । इन्हीं रागद्वेषादि भावों के कारण से आत्मा कार्माण पुद्गल समूह, जो आत्मा से भिन्न द्रव्य है उसको ग्रहण करता है । यह द्रव्य उसका कर्म कहलाता है । ऐसे भावकर्म और द्रव्यकर्म के नाम से दो भेद हो जाते हैं । यहाँ ऐसा भी कहा गया है कि (निश्चय नय से) आत्मा तो अपने भावकर्म का ही कर्त्ता है न कि द्रव्यकर्म का क्योंकि एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य के द्वारा कभी ग्रहण नहीं किया जा सकता है ।

इस पर शंका होती है कि फिर द्रव्यकर्म कैसे हुआ ? इसका उत्तर यह है कि द्रव्यकर्म पुद्गल-द्रव्य का किया हुआ होता है अत: उसका कार्य कर्म है और उसका कर्त्ता पुद्गल-द्रव्य है । यह उत्तर भी ठीक तरह से समझ में नहीं आता है क्योंकि फिर तो पुद्गल-द्रव्य भी उसके अपने परिणाम का ही कर्त्ता होना चाहिए, न कि पुद्गल-द्रव्य का । ऐसे दशा में तो फिर भावकर्म और द्रव्यकर्म इस प्रकार से भेद न होकर जीव भावकर्म और पुद्गल भावकर्म ऐसे भेद होने चाहिए ।

इच्छावान् के द्वारा सम्पन्न परिणमन का नाम ही कार्य या कर्म होता है और वह इच्छावान जीव उसका कर्त्ता होता है । ऐसा इन्हीं ग्रन्थकार ने अपने समयसार ग्रन्थ में कर्तृकर्माधिकार में गाथा नं. 97 तथा गाथा नं. 102 में स्पष्ट बताया है । इच्छारहित जीव तथा पुद्गल के द्वारा सम्पादनीय परिणमन को कर्म न कहकर भाव्य कहा जाता है उसका सम्पादन कर्त्ता न होकर भावुक होता है । निष्कर्ष यह है कि जीव के रागद्वेषादि भाव की तरह पुद्गल का ज्ञानावरणादि रूप परिणमन भी पुद्गल का कर्म नहीं है । यह तो जीव का ही कर्म है, यह जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करता हुआ, उसके लिए फलप्रद होता है ।

यह बात दूसरी है कि रागद्वेषादि भाव जीव का स्वयं का विकार भाव होता है अत: उससे अभिन्न होता है । ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल स्कंध जीव से भिन्न द्रव्य है । अत: भिन्न को भी ग्रहण करनेवाले अभूतार्थ नय से तो (व्यवहार नय से) वह भी जीव का ही कर्म है । केवल अभिन्न विकार को ही ग्रहण करनेवाले भूतार्थ नय (अशुद्ध निश्चय नय) की दृष्टि में ज्ञानावरणादि से जीव का कोई सम्बन्ध नहीं है । अत: वहाँ तो रागादि भाव ही जीव का कर्म है और जीव ही उसका कर्त्ता है ऐसा जैनागम का कथन है ।"

आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने वृहद् द्रव्यसंग्रह में कहा है -

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ।।8।।

– आत्मा व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है और (अशुद्ध) निश्चय से रागद्वेषादि चेतनभाव कर्मों का तथा शुद्धनिश्चय से शुद्धभावों का कर्त्ता है । आ. कुन्दकुन्द स्वामी की इसी विषय की गाथा भी दृष्टव्य है -

जं कुणदि भावभादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ।।स. प्रा. 98।।

– आत्मा जिस भाव को करता है (निश्चय नय से) वह उसका कर्त्ता होता है उसके निमित्त से (उन भावों के निमित्त से) पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मत्वरूप परिणमन करता है । जीव के निमित्त से कर्म परिणाम उत्पन्न होता है अत: जीव उसका निमित्त कर्त्ता है । इसी को व्यवहार नय से कर्त्ता माना गया है ।

आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने इन्हीं आर्ष मान्यताओं का निरूपण सोदाहरण एवं तर्क पूर्ण शैली में नय विवक्षा से किया है । उनका चिन्तन कितनी गहराइयों तक पैठ बना चुका

था यह नापना भी अत्यन्त कठिन है । उनकी शैली सम्मुख खड़े व्यक्ति का पर्याप्त समाधान करने में सक्षम है । शंकाओं का निरसन करने के लिए वे सदैव रुचिवान दृष्टिगोचर होते हैं । कर्त्ता-कर्म विषयक भी उनका सोच गजब का है । यहाँ सम्यक्त्वसार शतक का उनका एक श्लोक बरबस आकर्षित कर रहा है, प्रस्तुत है -

"इदं करोति तु जीवनर्म, विकल्पबुद्धौ क्रियते च कर्म ।
द्वयोरवस्था नृकलत्रकल्पा, मिथः सदा धारकधार्य जल्पा ॥20॥

अन्वयार्थ – मैं यह करता हूँ, मैं वह करता हूँ इत्यादि निज विकल्प बुद्धि से जीव के द्वारा कर्म किये जाते हैं । जीव और कर्म की यह अवस्था पति-पत्नी के सम्बन्धों जैसी है । जो सदा कर्म और जीव के बीच क्रमशः संग्राह्य और संग्राहक जैसा नाता है ।

अर्थ – मैं खाता हूँ, पीता हूँ, मारता हूँ, काटता हूँ, पीटता हूँ इत्यादि विकल्प में पड़कर इस आत्मा का जो राग-द्वेषरूप परिणाम होता है उसका करनेवाला यदि वस्तु-परक विचार कर देखा जाय तो यह आत्मा ही है (यह मान्यता कि आत्मा नहीं करता वह तो पर्याय करती है, पर्याय में होता है द्रव्य में नहीं भ्रामक है तथ्य पर आधारित नहीं है) दूसरा कोई भी नहीं है । यद्यपि बाह्य पदार्थ इसमें निमित्त जरूर बनता है फिर भी उस भाव को होने देने और न होने देने का उत्तरदायित्व इस जीवात्मा पर ही है । ..... मानना होगा कि अपने परिणामों को खोटे और चोखे करनेवाला यह आत्मा ही है । ..... यह आत्मा अपने भाव को भला या बुरा आप बनाता है अतः यही उसका कर्त्ता और जो जैसा भाव इससे बनता है, वह भाव उसका कर्म यानी कार्य है । यह आत्मा जैसा (कार्य) भाव करता है उसी के अनुसार कर्मवर्गणा कर्मरूप में आकर उसका साथ देती है अतः वे भी इसी की हुई यानी कर्म कहलाती हैं । क्योंकि भाव और भावी में अभेद होता है इसलिए जो जिसके भाव से हुआ वह उस भाववान से ही हुआ, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं क्योंकि भाव से जो हुआ वह भाववान पर ही फलता है । इस प्रकार कर्म और जीव में परस्पर औरत और मर्द का सा नाता है । कर्म संग्राह्य है और जीव है सो संग्राहक होता है । किंच और अगर भलेरी हो तो उसे मर्द के विचारानुसार चलना पड़ता है । मर्द को भी उसका ध्यान अवश्य रखना पड़ता है । (उदाहरण - श्रीपाल-मैनासुन्दरी के वचन निर्वाह का) ...... वैसे ही जीव के परिणामानुसार कार्माणवर्गणाओं को परिणमन करना पड़ता है तो जीव को भी अपने किये हुए कर्म के वश होकर चलना पड़ता है ।

पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में वर्णन किया है कि जीव और कर्म की एकदंडी बेड़ी के समान स्थिति है । संसार अवस्था है दोनों को साथ चलना पड़ता है । यदि जीव बलवान है तो कर्म को खींचकर अपने अनुकूल चलाता है और यदि कर्म बलवान है तो जीव को अपने अधीन पर प्रवर्तन कराता है । यह समस्त वर्णन व्यवहार नय का है । आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने उपर्युक्त विवेचन से पौद्गलिक भी कर्म को जीव का कर्म सिद्ध किया है वह अपने में सटीक और युक्तिपूर्ण है । यदि व्यवहारिक वर्णन को वस्तु ही न माना जाय तो संसार और मोक्ष दोनों का अभाव ही होगा । वस्तुतः यदि जीव कर्त्ता और पुद्गल कार्माण-वर्गणाओं का कर्मरूप परिणमन जीव का कर्म, व्यवहार नय का विषय होने

पर भी, यदि स्वीकार नहीं किया जाता तो कर्मों को कर्म संज्ञा ही प्राप्त न होती । कारण कि भोक्ता के अभाव में कर्म-कर्त्ता का भी अभाव मानना होगा । यत: अचेतन पुद्गल तो कर्मफल का भोक्ता है नहीं, भोक्ता तो जीव ही है अत: कर्म भी जीवकृत अवश्यमेव स्वीकार करने योग्य है । न्याय को ताक में रखकर तो कर्तृकर्मभाव की गवेषणा ही असंभव है । यहाँ कोई प्रश्न करे कि आ. अमृतचन्द्रजी ने जो निम्न श्लोक (कलश) लिखा है, क्या वह व्यर्थ है -

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम् ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥62॥

- आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है ज्ञान के अतिरिक्त और क्या करता है ? अर्थात् कुछ नहीं करता । आत्मा परभाव (पौद्गलिक भाव) का कर्त्ता है, यह व्यवहारी जनों का मोह है ।

समाधान – यह निश्चय नय का व्याख्यान है । यदि कोई ऐसा माने कि निश्चय नय से आत्मा पौद्गलिक कर्म के रूप में परिणमन करता है तो वह मिथ्यात्व ही कहलावेगा। परन्तु यदि व्यवहार नय से अर्थात् निमित्तकर्त्ता मानता है तो कोई दोष नहीं है । निमित्तकर्त्ता कोई अवस्तु तो नहीं है । जैसे जिनवाणी शब्द का अर्थ है कि जिनेन्द्र प्रभु की वाणी । वाणी तो पुद्गल है इस कार्य का कर्त्ता जिन को बतलाया गया है, क्या वह असत्य है ? कदापि नहीं । क्योंकि इसका निषेध करने से तो संसार और मोक्ष एवं मोक्षमार्ग का ही अभाव मानना होगा जो कि न तो दृष्ट है और न इष्ट ही । अभिन्न कर्तृकर्मभाव (निश्चय का विषय) तथा भिन्न कर्तृकर्मभाव (व्यवहार) दोनों ही स्वीकृत है । भूल तो तब होगी जब कि निश्चय नय से ही कोई भिन्न कर्तृकर्मभाव मानता है । आ. कुन्दकुन्द स्वामी ने पञ्चास्तिकाय में तथा आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने जीव स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे कर्त्ता स्पष्ट रूप से लिखा है । हमने द्रव्यसंग्रह की गाथा पीछे उद्धृत की है । (संख्या नं. 8) निज को निज और पर को पर मानना तो अभीष्ट है किन्तु निज का अथवा पर का सर्वथा अकर्तृत्व स्थापन तो मिथ्यात्व ही है । इस विषय में आ. कुन्दकुन्द ने सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार (समयसार) में घोषणा की है कि सर्वथा अकर्त्ता मानने से तो सांख्यमत की प्राप्ति होगी । इस प्रकरण में पं. बनारसीदास के निम्न दो छन्द दृष्टव्य है -

केई मूढ़ विकल एकान्तपक्ष गहैं कहैं
आत्मा अकरतार पूरन परम है ।
तिनसों ज्र कोई कहै जीव करता है तासों
फेरि कहैं कर्म को करता करम है ॥
ऐसे मिथ्यागमन मिथ्याती ब्रह्मघाती जीव
जिनके हिए अनादि मोह को मरम है ।
तिनके मिथ्यात्व दूरि करिवे को कहैं गुरु
स्याद्वाद परवान आतम धरम है ॥

जैसे सांख्यमती कहै अलख अकरता है
सर्वथा प्रकार करता न होय कबही ।
तैसे जिनमती गुरुमुख एकान्त पक्ष सुनि
ऐसे ही मानै सो मिथ्यात्व तजै कबही ॥
जौलो दुरमती तौलों करम को करता है ।
सुमती सटा अकरतार कह्यो सबही ।
जाके हिय ज्ञायक सुभाव जग्यो जबही सों
सो तौ जग जाल सै निरालो भयो तबही ॥

पू. आ. विद्यासागरजी महाराज ने अपने प्रवचन में कहा था कि नय और नयन एकार्थवाची हैं । सभी अवगत हैं कि नेत्र अपने सम्मुख विषय को ही ग्रहण करता है उसकी दृष्टि में वही सत्य है तथा उसके पीछे भी अन्य विषय है जो उसकी दृष्टि में न आने से भले ही उसे असत्य या अविद्यमान कह दिया जावे परन्तु वह अन्य दृष्टि का विषय होने से सत्य ही है । एवंविध ही जहाँ एक और शुद्ध निश्चय नय आत्मा को परभावों (द्रव्यकर्म - नोकर्म-रागद्वेषादि भावकर्म) का अकर्त्ता मानता है उसकी दृष्टि ही शुद्ध पर है, वहीं दूसरी ओर अन्य नय (व्यवहार) पर कर्त्तत्व की चेतन में स्वीकृति प्रदान करता है । आ. अमृतचन्द्रजी ने कहा है कि नय विवक्षा से आत्मा कर्त्ता और अकर्त्ता दोनों रूपों में स्वीकार है । ज्ञानी को नय का पक्षपात नहीं है ।

एकस्य कर्त्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातमस् तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।सम. कलश 74 ॥

प. पू. आ. ज्ञानसागरजी महाराज के नय निरूपण रूपी दर्पण में निश्चय और व्यवहार दोनों ही स्पष्ट रूप में विशदरूप में प्रतिविम्बत होते हैं किसी पर कोई आवरण नहीं डाला जाता, किसी का आग्रह नहीं है । उन्होंने यथार्थ की स्थापना की है । एकान्तवाद का निरसन शंका समाधान की शैली में उनको रुचिकर है । व्यवहार कर्त्ता या निमित्त कर्त्ता की सिद्धि हेतु निम्न दृष्टव्य है, (सम्यक्त्वसारशतक, पृष्ठ 44)

शङ्का - यदि ऐसा मानें कि गुरु आये इसलिए श्रद्धा हुई तो गुरु कर्त्ता और शिष्य को श्रद्धा हुई इसलिए यह उनका कार्य हुआ । इस प्रकार दो द्रव्यों के कर्त्ता-कर्मपना आ जावेगा । (कानजी लिखित वस्तु विज्ञानसागर, पृष्ठ 39)

समाधान - दो द्रव्यों के कर्त्ताकर्मपना आ जावेगा इसमें क्या हानि होगी । हमारे आचार्यों ने तो निमित्त-नैमित्तिक रूप में एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता और उसको उसका कर्म तो माना ही है । देखो - कुन्दकुन्दाचार्य ने ही समयसार में लिखा है कि -

अण्णाणमओ भावो अण्णणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।।135।।

श्रीमान्जी ! निमित्त (व्यवहार कर्त्ता) के नाम से आपको क्या (क्यों) इतनी चिढ़ है यह हम अभी तक नहीं समझ सके । हमारे आचार्यों ने तो विशेष कार्य को निमित्त विशेष के द्वारा ही निष्पन्न होता हुआ बतलाया है ।"

इतनी चिढ़ का कारण पू. आचार्य श्री को अपने जीवन काल (1972) तक संभवत: इस हेतु से ज्ञात नहीं हो सका होगा कि उस समय तक कानजी के स्वत: ही भावी तीर्थंकर होने की घोषणा गुप्त ही होगी तथा उनके कृत्रिम दिगम्बर जैनधर्म स्वीकृति की पोल नहीं खुली थी। श्वेताम्बरत्व छोड़कर कुन्दकुन्द के अध्यात्म ग्रहण के कारण कानजी के प्रति स्वाभाविक रूप से वात्सल्य उमड़ पड़ा था। उनकी आगम विरुद्ध मान्यताओं, मुनि विरोध एवं सोनगढ़ के पोपडम के होते हुए भी प्राय: यही माना जाता था कि अज्ञान से यह सब हो रहा है। किन्तु अब तो सोनगढ़ी वर्ग के प्रति दिगम्बर जैनसमाज में स्पष्ट चेतना एवं अवधारणा बन चुकी है कि निमित्त या व्यवहार के प्रति चिढ़ का कारण अन्तत: श्वेताम्बरत्व के परिग्रह परिवेश में ही शुद्धोपयोग की सिद्धि एवं लोकेषणा में अन्तर्निहित है। उनके निश्चयनय का यह दुरुपयोग ही कहा जावेगा कि अद्यावधि आत्मा को शरीर से भिन्न कहनेवाले एवं एकद्रव्य से अन्य द्रव्य को बिलकुल अप्रभावी घोषित करनेवाले जनसमुदाय में क्या भाव-लिङ्गी' क्या द्रव्यलिङ्गी, एक भी साधक प्रकट नहीं हो पाया। मात्र भावलिङ्गी की निष्फल कल्पना समाज को विभाजित करने के असफल प्रयत्न में ही संलग्न रही। आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने समग्र साहित्य में अधिकांश तौर पर नामोल्लेख करते हुए कानजी के निश्चय-दुर्नय और व्यवहार निरपेक्षता का निरसन किया है क्योंकि व्यवहाराभासी की अपेक्षा निश्चययाभासी अधिक हानिकर होता है एवं उस काल में मुमुक्षु-मण्डल का मुखौटा लगाये मिथ्यात्व का जन्तु जैनधर्म के मूल तत्त्व चार आराधना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूपी वृक्ष की जड़ काटता शंका का केन्द्र बन गया था। मात्र अकर्त्ता मानने के पर्यायरूप में सम्यग्दर्शन की व्याख्या की जा रही थी। एतदर्थ आर्षमार्ग की रक्षा हेतु आचार्य श्री का यह प्रयत्न अति स्तुत्य है। उन्होंने निश्चय-व्यवहार के कर्त्ताकर्मविषयक हार्द को स्पष्ट कर अपनी रचनायें की हैं।

आ. ज्ञानसागरजी ने समयसार पृष्ठ 309 (गाथा 344-46) पर हमारे कर्त्ता अकर्त्तापन विषयक एक सरल सूत्र विशेषार्थ के रूप में प्रदान किया है।

"यहाँ पर आचार्य ने इस बात पर जोर दिया कि मुमुक्षु अर्थात् मुनि होकर भी अपने आपको कर्त्ता मानता रहेगा तब फिर वह मुक्त नहीं हो सकता है क्योंकि जो अपने आपको कर्त्ता मान रहा है वह तो कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा एवं जब कर्त्ता रहेगा तो उसका फल भी भोगता रहेगा। ऐसी दशा में मुक्त होने की बात कैसी ? हाँ, इसके साथ यह बात भी समझ लेना चाहिए कि गृहस्थपन में कर्तापन से दूर नहीं हो सकता क्योंकि गृहस्थपन का कर्त्तापन के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। गृहस्थपन में रहकर बुरा न करे तो भला करे; किन्तु कुछ तो करना ही होगा, अकर्त्ता नहीं रह सकता। फिर भी अकर्त्तापन की श्रद्धावाला हो सकता है; किन्तु स्वयं अकर्त्ता बनने के लिए गृहत्याग की एवं मुक्त हो जाने के लिए अकर्त्तापन की आवश्यकता होती है।"

इस प्रकरण में यह ध्यान देने योग्य है कि मात्र अकर्त्तापन मान लेने से अकर्त्ता नहीं होता यह तो सांख्य मत के सदृश कल्पना है। पर-पदार्थों से कर्त्तत्व व सम्बन्ध हटाते जाने एवं ज्ञाता-दृष्टास्वरूप परिणमन करने से अकर्त्ता होता है। प्राप्त को यदि निष्कर्म सिद्ध अवस्था

करनी ही है तो केवल निज को पर का अकर्त्ता मानने के बजाय पर का त्याग भी तो अनिवार्य है। सब कुछ करते हुए भ्रम से अकर्त्ता मानना तो अकल्याण कर ही है। बिना इच्छा या भावना से तो कर्म तैयार होता नहीं है। प. पू. आ. विद्यासागरजी महाराज ने गंजबासौदा पञ्चकल्याणक में इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरण दिया था, Rasgulla (रसगुल्ला) Can't go to mouth without intension.

- बिना अभिप्राय के रसगुल्ला मुख में नहीं जा सकता। अर्थात् रसगुल्ला यदि खाया जा रहा है तो इस खादन क्रिया की इच्छा करने वाला कर्त्ता अवश्य है। "मैं नहीं खाता शरीर खाता है," यह कल्पना भ्रम है। यदि शरीर खाता हो तो उसका फल भी शरीर को मिलना चाहिए। मांसादि का सेवन करने से शरीर नरक में नहीं जाता वस्तुतः जिसने खाया है वह आत्मा ही नरक में उस करनी का फल भोगता है।

पं. बनारसीदासजी की निम्न पंक्तियाँ प्रस्तुत करना संगत होगा -

करै करम सोई करतारा। जो जानै सो जाननहारा।
ज्ञाता सो करता नहिं होई। करता सो ज्ञाता नहिं कोई॥
ज्ञानकला जिनके हियजागी। ते जगमांहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषय सुख माहीं। ये विपरित संभवै नाहीं॥
दो पथ पन्थी चलै न पन्था। दो मुख सूई सिये न कन्था।
दोउ काम नहिं होय सयाने। विषयभोग और मोक्षहु जाने॥

समयसार की वस्तुतत्त्व विवेचना में जीव के कर्मकर्त्तत्व के एकान्त का व कर्मकर्त्तत्व के अभाव के एकान्त की पुष्टि नहीं की गई है, हाँ, सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में ईश्वर के अन्य मत सम्मत के सृष्टिकर्तृत्व रक्षा व संहार का संयुक्ति निराकरण है। वस्तुतः आत्मद्रव्य ही अपने उत्पादांश से ब्रह्मा, अपने व्ययांश से शंकर एवं अपने ध्रुवांश से विष्णु है। अन्य कोई नहीं, वही अपना सर्वस्व है। ईश्वर तो मात्र साक्षी भूत है।

पू. ज्ञानसागरजी महाराज नय-विषयक सूझ-बूझ के धनी थे। निरूपण करने में यदि अन्य किसी टीकाकार की कुछ पंक्तियाँ यदि उन्हें प्रभावित करती हुई प्रतीत होती थी तो बड़ी रुचि से विषय के स्पष्टीकरण हेतु तथा श्रोता या पाठक को यथार्थ निर्णय होने तक उद्धृत भी करते थे। समयसार (तात्पर्यवृत्ति) गाथा नं. 351-54 की टीका-विशेषार्थ में देखिए, उपरोक्त विषय में सहायक होगा।

विशेषार्थ – पं. जयचन्दजी का भावार्थ - वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्य-पर्यायस्वरूप कहा है। इसलिए पर्याय अपेक्षा (व्यवहार से) तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य अपेक्षा (निश्चय) नित्य है। ऐसा अनेकान्त स्याद्वाद से सिद्ध होता है। ऐसा होने पर जीव नामा वस्तु भी ऐसा ही द्रव्यपर्यायस्वरूप है, इसलिए पर्याय अपेक्षा कर देखा जाय तब कार्य को करता तो अन्य पर्याय है और भोगता अन्य ही पर्याय है। जैसे मनुष्यपर्याय में शुभाशुभ कर्म किये उनका फल देवादि पर्यायों में भोगा। परन्तु द्रव्य-दृष्टि कर देखा जाय तब जो

करता है वही भोगता है ऐसा सिद्धि होता है जैसे कि मनुष्य पर्याय में जो जीव द्रव्य था जिसने शुभ तथा अशुभकर्म किये थे वही जीव देवादि पर्याय में गया उसी जीव ने अपने किये का फल भोगा । इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकान्त रूप सिद्ध होने पर भी शुद्धनय में तो संशय नहीं किन्तु शुद्धनय के लोभ से वस्तु का पर्याय वर्तमान काल में जो एक अंश था उसी को वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनय का एकान्त पकड़कर जो ऐसा मानते हैं कि जो करता है वह भोगता नहीं है । अन्य भोगता है और जो भोगता है वह कर्त्ता नहीं है अन्य करता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि अरहंत मत के नहीं है ।

अन्यत्र भी आ. ज्ञानसागरजी ने अपने विवेचन की पुष्टि हेतु पं. जयचन्दजी के भावार्थ का उपयोग किया है जो कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है, समयसार पृष्ठ 328

विशेषार्थ – पं. जयचन्दजी का भावार्थ - सांख्यमती पुरुष (आत्मा) को एकान्त कर अकर्त्ता शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं । ऐसा मानने से पुरुष के संसार का अभाव आता है । प्रकृति को संसार माना जाय, तो प्रकृति तो जड़ है उसके सुख-दुःख आदि का संवेदन नहीं है इसलिए किसका संसार, इत्यादि दोष आते हैं क्योंकि सर्वथा एकान्त वस्तु का स्वरूप नहीं है, इस कारण वे सांख्यमती मिथ्यादृष्टि है उसी प्रकार जो जैनी भी मानते हैं तो वे मिथ्यादृष्टि होते हैं । इसलिए भावार्थ उपदेश करते हैं कि सांख्यमतियों की तरह जैनी आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मत मानो । जब तक आपा पर का भेदविज्ञान न हो तो रागादिक अपने चेतन-रूप भाव-कर्मों का कर्त्ता मानों । भेद-विज्ञान हुए पश्चात् (समाधिकाल में) शुद्ध विज्ञान घन समस्त कर्त्तापन के अभाव कर (रहित) एक ज्ञाता ही मानो । इस प्रकार एक ही आत्मा में कर्त्ता और अकर्त्ता दोनों भाव विवक्षा के वश से सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वाद जैनियों का है तथा वस्तु स्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है । ऐसा मानने से पुरुष के संसार, मोक्ष आदि की सिद्धि होती है सर्वथा एकान्त मानने में सब निश्चय-व्यवहार का लोप हो जाता है ऐसा जानना ।'' (तात्पर्य वृत्ति, गाथा 363-367)

पू. आ. विद्यासागरजी महाराज का पद्यानुवाद भी इसी बात का समर्थन करता है -

''जो भी करे करम ही करता कराता,
संसार का रचयिता बस कर्म भाता ।
ऐसा हि सांख्य मत सा यदि तू कहेगा,
आत्मा अकारक रहा भव क्या रहेगा ॥363॥

सारांश यह है कि संसार में जीव ही कर्त्ता-भोक्ता है, रागादि भाव कर्म का कर्त्ता पुद्गल नहीं है निश्चय नय से आत्मा ही है । द्रव्य कर्मों का कर्म आत्मा व्यवहार नय से है अर्थात् निमित्त कर्त्ता है । घट-घट आदि कर्मों का कर्त्ता उपचरित नय से आत्मा ही है। सभी दृष्टियों से सिद्ध है कि कर्मों का फल आत्मा ही भोगता है । अतः वही कर्त्ता है । आत्मस्वरूप कर्त्तापन से रहित है जो सिद्ध अवस्था में प्रकट होता है । शुद्धनय के विषयभूत अकर्त्तापन का ज्ञान-श्रद्धान अकर्त्ता होने के लिए एवं उसके साधन रत्नत्रय से प्रकट करने के लिए है न कि वर्त्तमान में कर्त्ता-भोक्ता साक्षात् होते हुए भी भ्रम से अपने को अकर्त्ता

मानकर पुरुषार्थहीन होने के लिए । पू. ज्ञानसागरजी महाराज ने सभी नय द्वारों से अध्यात्म निरूपण में कर्त्ता-कर्म भाव की सम्यक् मीमांसा की है जो कि हमें सम्यक्स्वरूप बोध कराने में समर्थ है ।

35. पाप-पुण्य, लोहे-सोने की बेड़ी

समयसार निश्चय नय प्रधान महान आध्यात्मिक कृति है, साधु को बाह्य से अन्तर में प्रवेश कराती है । इस समाधिस्थ स्थिति में योगी पाप-पुण्य से परे हो साम्यभाव का अनुभव करता है । उसकी अपेक्षा निम्न पद की अपेक्षा उपादेय भी पुण्य या शुभकर्म, पाप-अशुभ के समान ही बन्धन का कारण स्वीकृत किया जाता है । आ. कुन्दकुन्द ने इसी भाव को गाथा नं. 153 में निम्न प्रकार व्यक्त किया है ।

सौवण्णियंपि णियलं बंधदि कालायसं पिल्लह पुरिसं ।
बन्धदि एवं जीवं सुहमसुहं बा कदं कम्मं ।ता. वृ. 153।।

- जैसे सोने की बनी बेड़ी हो चाहे लोहे की, दोनों ही तरह की बेड़ियाँ पुरुष को साधारण रूप में जकड़ कर रखती है । इसी प्रकार चाहे शुभकर्म हो या अशुभकर्म, वह साधारण रूप से जीव को बाँधता है, संसार में रखता है ।

उपरोक्त विषय को नय विवक्षा से अनभिज्ञ जन प्राय: समझने में असमर्थ होकर असमीचीन अर्थ ग्रहण कर लेते हैं । इसी अभिप्राय को दृष्टिगत कर आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने समयसार की विवेकोदय व्याख्या में इसका पर्याय स्पष्टीकरण किया है, अवश्य पठनीय है ।

(पृष्ठ 73)

"जीव को जकड़े रहने रूप सामान्य की अपेक्षा से तो कर्म एक ही प्रकार का होता है फिर भी उसकी विशेषता की ओर देखा जाय तो प्रधानतया उसके शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार हो जाते हैं । जो जीव को नरक निगोदादि अवनति की तरफ ढकेल कर संसार वृद्धि का ही कारण हो वह तो अशुभ-कर्म और जो अनुदिशेन्द्र, सौधर्मेन्द्र, लौकान्तिकारिक भवदायक होकर परीत संसारिता प्रकट करते हुए उन्नति का सहायक हो वह शुभकर्म कहलाता है । अब जब तक कि यह जीव सरागता को लिये हुए है तब तक इसके लिए अशुभ-कर्म हेय और शुभकर्म उपादेय होता है अर्थात् जहाँ तक शुक्लध्यान रूप परमसमाधि में नहीं पहुँचा जाता है या पहुँचकर भी उसमें स्थिर नहीं रह पाता तो अशुभ-कर्मों को परिहार्य समझकर शुभ कर्मों को तत्परता के साथ करता है (व्यवहार को अपनाता है) परन्तु जबकि यह जीव आत्मतन्त्र होकर परम समाधिस्थ बन रहा है या उसके सम्मुख ही होता है तो अशुभ-कर्मों की तरह से ही शुभकर्मों को भी लात मारता है । वह सोचता है कि यह भी तो कर्म ही है इसके रहते मैं स्वतन्त्र थोड़े ही हो गया ।"

आचार्य आगे निरूपित करते हैं,

"बेड़ी चाहे लोहे की या सुवर्ण की जबतक उसे न काटी जावे तब-तक वह कैदी को जकड़े हुए ही रहती है उसी प्रकार कर्म चाहे अशुभ हो चाहे शुभ जब-तक कि वह

बना रहेगा जीव की मुक्ति नहीं कही जा सकती । श्री तीर्थंकर केवली के भी जब-तक तीर्थंकर प्रकृति का उदय बना रहता है तब अरहन्त से सिद्ध नहीं हो पाते । एवं कर्मत्व की अपेक्षा (अथवा निश्चय नय की अपेक्षा) दोनों एक हैं फिर भी सर्वथा दोनों को एक ही मान बैठना भूल से खाली नहीं है अपितु दोनों में बड़ा भारी अन्तर है । इसको समझने के लिए उदाहरण, जैसे एक आदमी को अजीर्ण हो रहा है और रोग बढ़ता है परन्तु अगर पाचक चूर्ण की एक खुराक खाता है तो वह उसके अजीर्ण को भी पचा डालता है और आप भी पच जाया करता है उसी प्रकार शुभकर्म भी आत्मा के किये दुष्कर्मों को निवृत्त करते हुए आप (ही) निवृत्त होता है एवं आत्मा के लिए मुक्ति का साधन बनता है किन्तु अशुभ-कर्म संसार वृद्धि कारक होता है जैसा कि गाथा नं. 145 की आत्म-ख्याति में लिखा है - "शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौं तु प्रत्येकं केवलं जीवपुद्गल मयात्वादनेकौ" अर्थात् शुभकर्म जीव को बलदायक होने से मोक्षमार्ग कहा जाता है किन्तु अशुभ-कर्म पुद्गल को बलदायक होने से बन्ध का मार्ग, संसार वृद्धि का कारण है इसीलिए दोनों भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् शुभकर्म आत्मा के हित की वांछा को लेकर किया जाता है और अशुभ-कर्म शरीर के वशवर्त्ति रूप से यह भेद है । याद रहे मिथ्यादृष्टि का पुण्यकर्म शुभ न होकर शुभाभास होता है ।" (पृष्ठ 74-75) "शुद्धोपयोग में जहाँ तक किंचित् लगने न पाये तबतक शुभकर्म करते ही रहना चाहिए । (निश्चय की अप्राप्ति में व्यवहार उपादेय है) ..... खुद ऋषभदेव भगवान को भी जब सत्कर्म करते हुए तिरासी लाख पूर्व बीत चुके । उनकी आयु का चौरासीवां अंश सिर्फ बाकी रहा तो इन्द्र ने विचार किया कि भगवान अगर इसी तरह करते रहे तो कैसे काम होगा, अतः उसने नीलांजना का संयोग मिलाया जिससे कि प्रतिबुद्ध होकर भगवान शुद्धोपयोग के साधनभूत मुनि मार्ग में लग गये । इस पर जो कोई यह कहते हैं कि निमित्त कुछ भी नहीं करता, उन लोगों को भी देखना चाहिए । अस्तु, जबकि जिनशासन की यह स्पष्ट आज्ञा है कि आज इस कलिकाल में पैदा हुए जीव को शुद्धोपयोग हो ही नहीं सकता तो फिर उसके लिए प्रयास करना और उसकी धुन में शुभकर्म को छोड़कर उच्छृंखल हो जाना ठीक नहीं । अपितु घोर मिथ्यादृष्टिपन है । निश्चय-सम्यग्दर्शन तो दूर रहा तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप स्थूल (व्यवहार) सम्यग्दर्शन से भी भ्रष्ट होकर रहता है ।

शङ्का – जब कि शुद्धोपयोग आजकल होता नहीं और मुनिपन का लक्ष्य शुद्धोपयोग है तो मुनि बनना व्यर्थ ही रहा ।

उत्तर – शुद्धोपयोग नहीं होता किन्तु जैसा शुभोपयोग रूप धर्म-ध्यान आरम्भ और परिग्रह रहित मुनि होने से होता है वैसा गृहस्थपन में फँसे हुए ममतावाले जीव को नहीं हो पाता तथा मुनि होने की शास्त्र में आज्ञा भी है; किन्तु मुनि होना तभी सार्थक है जबकि तादृश पात्रता हो, कुछ स्थायी निर्मम भाव हो, शरीर भी सुदृढ़ हो इत्यादि । हाँ, ख्याति, लाभ, पूजा वगैरह को लेकर बनावटी वैराग्य से मुनि बनना, दुनिया को धोखे से डालना और अपना भी बुरा करना है । उससे तो अच्छा यही कि श्रावक बनकर धर्म साधन करें किन्तु सच्चा वैराग्य हो तो दुनियादारी की झंझट से दूर होकर निर्ग्रन्थ बनना और अपने मनुष्य जीवन को सफल करना ही चाहिए ।"

उपरोक्त निरूपण से अनेकों भ्रान्तियाँ नष्ट कर क्या गृहस्थ, क्या साधु, सभी को आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने दिशा-निर्देश किया है । निश्चयाभास एवं व्यवहाराभास, दोनों को ही अनिष्ट घोषित किया है । मात्र बाह्यक्रिया से मोक्षमार्ग नहीं बनता। अन्तरङ्ग आचरण की निर्मलता में सहायक क्रिया को ही वस्तुतः धर्म में सम्मिलित किया है। कहा भी है। 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः ।' अन्यत्र भी -

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यत्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्द मन्दोद्यमा ॥
विश्वस्योपरि ने तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं ।
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ।

- समयसार कलश 111

यहाँ स्पष्ट है कि एकान्त कर्मनयावलम्बी (व्यवहाराभासी) एवं एकान्त ज्ञाननयावलम्बी (निश्चयाभासी) दोनों ही डूबते हैं ।

समयसार की टीका में आ. ज्ञानसागरजी ने वस्तुस्वरूप के विभिन्न पार्श्वों के अवलोकन एवं निर्णय हेतु जो निश्चय-व्यवहार निरूपण किया है वह सम्पूर्ण रूप में नय-सृष्टि, नय-दृष्टि एवं नय-समष्टि इस त्रिविधता में दृष्टिगत होता है । वे आर्षपरम्परा मान्य नय विवक्षा को अपने ढंग से उदाहरण सहित सृजित करते हुए प्रकट हुए हैं । उनकी नय दृष्टि अत्यन्त विशाल है, उसमें स्पष्टता है, आग्रह रहितता है । उन्होने प्रायः अपने वाङ्मय में सभी नयों निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों को प्रस्तुत किया है वे समष्टि को परमावश्यक मानते हैं। वे नयों की एकता में अनेकता एवं अनेकता में एकता संजोए हुए हैं । आवश्यकता है उनके तत्त्वामृत का रसास्वादन करने की ।

36. कर्मबन्ध स्वरूप

आ. कुन्दकुन्द ने समयसार में बन्धाधिकार तथा कर्तृकर्माधिकार में अध्यात्म गवेषणा के परिप्रेक्ष्य में नय विवक्षा को स्पष्ट करते हुए कर्मबन्ध स्वरूप और प्रक्रिया को उल्लिखित किया है । प्रवचनसार में भी यह सन्दर्भ है । आ. ज्ञानसागरजी महाराज ने कुन्दकुन्द के मन्तव्य को आत्मख्याति एवं तात्पर्यवृत्ति को पल्लवित करते हुए सम्यक् प्रकट किया है उनका यह विवरण अवश्य ही दृष्टव्य है । अपनी न कहकर पू. ज्ञानसागर महाराज को ही अवतरित करूँगा ।

समयसार गाथा नं. 148 का विशेषार्थ –

"जीव और पुद्गलकर्म को एक बन्धपर्याय के रूप में देखा जाये तब तो भिन्नता का अभाव है वहाँ जीव में कर्म बँधते भी हैं और उसे छूए हुए भी हैं, यह व्यवहार नय का कथन है; किन्तु जीव और पुद्गलकर्म को भिन्न द्रव्य के रूप में देखा जाये तो वे दोनों भिन्न-भिन्न पृथक् ही हैं । इसलिए जीव में कर्मबद्ध भी नहीं हैं और उससे छुए हुए भी नहीं हैं, यह निश्चय नय का पक्ष है किन्तु आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो इन दोनों बद्धाबद्ध से भिन्न प्रकार का केवल चेतनत्व को लिए अमूर्त्त स्वरूप है ।"

गाथा नं. 149 का विशेषार्थ –

''जीव को बद्ध बताने पर संसारी मात्र का ग्रहण हो सकता है, किन्तु सिद्ध जीव का नहीं'' और अबद्ध कहने से जो सिद्ध जीव हैं उन्हीं का ग्रहण हो सकता है उसमें संसारी जीव शेष रह जाते हैं जो कि आत्म-तत्त्व से रहित नहीं है अत: तत्त्वज्ञानी जीवों की दृष्टि में नय प्ररूपण से परे जीव सदा चेतनस्वरूप है ।''

पू. आ. विद्यासागरजी महाराज के द्वारा लिखित पद्यानुवाद की निम्न पंक्तियाँ अवलोकनीय है –

''गाता विशुद्धनय जीव सदा जुदा है,
दुष्टाष्ट कर्म दल से न कभी बँधा है ।
संसारी जीव विधि से बँधता, बँधा था,
यों भाव-भीनि स्वर में व्यवहार भाता ।।48।।

है पक्षपात यह तो नय नीति सारी,
है निर्विकार यह आतम या विकारी ।
वे वस्तुतः समयसार बने लसे हैं,
जो साधु ऊपर उठे नयपक्ष से हैं ।।149।।''

आ. कुन्दकुन्द स्वामी ने गाथा नं. 148 में जीव और कर्म के बंध को दूध और पानी के मेल की भाँति बतलाया है । पञ्चास्तिकाय में स्वर्ण और मिट्टी की भाँति निरूपित किया है । दोनों ही एकमेक हो रहे हैं । भले ही यह व्यवहार नय का वक्तव्य है, पर वर्तमान यथार्थ की पृष्ठभूमि पर है । अमूर्तिक आत्मामूर्तिक कर्मों से कैसे बँधता है इस विषय में आ. ज्ञानसागरजी महाराज के प्रवचनसार में उल्लिखित संस्कृत व हिन्दी पद्यानुवादरूप निम्न वचन प्रयोजनीय है –

मूर्तिमान् पुद्गलः स्पर्शैरेति बन्ध परेण सह ।
कुतोऽन्यथा स्वभावोऽयं कर्म बध्नाति चेतनः ।।ज्ञेयाधिकार 81।।

आत्मसात् कुरुते रूपादीनि ज्ञानेन चेतनः ।
बालः क्रीडनकेनेव तेन बन्धमुपैति सः ।।82।।

रूपी जो पुद्गल अपने रूक्षादि गुणों से बन्ध धरे ।
किन्तु अरूपी चेतन में क्यों बन्ध कथा अवकाश करे ।।

तो इसका उत्तर कि जीव यह रूपादिकमय भाव धरे ।
अपने इसीलिए तन्मय हो बन्ध सदा स्वीकार करे ।।

– यहाँ आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि जैसे ज्ञान से आत्मा रूपादिक को जानता हुआ उन्हें आत्मसात् कर लेता है उसी प्रकार जीवबन्ध को प्राप्त कर लेता है । आचार्य

कहते हैं; "एक बच्चा किसी काष्ठ आदि खिलौने को देखकर उसे सुन्दर समझता हुआ अपने हाथ में पकड़े रहता है। यदि वह फूट जावे या बिगड़ जावे तो रोने लगता है। किसी भी प्रकार से उसका अभाव हो जाने पर दुःखी होता है। इसी प्रकार यह सच्चिदानन्द आत्मा भी इन मूर्त्तिक पर-पदार्थों को सदा से ही अपने भावों में अपनाये हुए हैं अतः अपने भावों के द्वारा यह उनके साथ बंधा हुआ है।"

विवेकोदय पृष्ठ 36 का यह स्थल पठनीय है,

"संसार से मुक्त होने पर जीव में रसादिक का लेश नहीं रहता। हाँ, जबतक कि यह संसारपन्न है तबतक वर्णादियुक्त होकर मूर्तिक बन रहा है ताकि (इसी हेतु से) इसके साथ कर्मों का सम्बन्ध लगा हुआ है। अगर इस समय भी इसको वर्णादियुक्त न कहकर अमूर्तिक ही कहा जाय तो अमूर्तिक का मूर्तिक कर्मों से सम्बन्ध नहीं बन सकता। आसमान को रस्सी से बाँधा जा सकता है क्या ? कभी नहीं। (सर्वथा अमूर्तिक को बन्ध नहीं होता) बस, तो फिर आत्मा इस पौद्गलिक शरीर में जकड़ा हुआ है अमूर्तिक कैसे कहा जा सकता है मूर्तिक ही है। जैसा कि ववहारा मुत्ति बन्धादो (वण्ण रस पञ्च गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे। णो संति अमुत्ति तदा ववहारामुत्ति बंधादो।) इस 'द्रव्य संग्रह' के वाक्य से स्पष्ट है एवं यही बात "तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी" इस प्रकार समयसारजी की गाथा नं. 61 के पूर्वार्ध में श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी लिख गये हैं। परन्तु उन वर्णादि का जीव के साथ संयोग है, तादात्म्य नहीं। तादात्म्य तद्रूप सम्बन्ध तो उनका पुद्गल द्रव्य के साथ है जो कभी हटाया हट नहीं सकता। यही जीव और पुद्गल में परस्पर भेद है नहीं तो फिर एक ही बन जावे सो है नहीं।"

इस उपरोक्त कथन की पुष्टि में आ. अमृतचन्द का निम्न कलश प्रस्तुत है -

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य, चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदीच्युतपक्षपातस्तस्यास्तिनित्यं खलु चिच्चिदेव ॥87॥

- यहाँ स्पष्ट है कि आत्मा एकनय (व्यवहार नय) की अपेक्षा दृश्य (मूर्तिमान) है। आत्मा का सूक्ष्मत्व गुण नामकर्म के उदय से विकृत होकर विभाव परिणमन किए हुए है। जैसे मूर्तिक मदिरा के प्रयोग से प्रभाव से आत्मा मदमत्त हो जाता है। यदि सर्वथा अमूर्तिक होता तो आकाश के समान उस पर भी मदिरा का प्रभाव न पड़ता।

आ. ज्ञानसागरजी महाराज का बन्ध प्रक्रिया विस्तार विषयक निरूपण और भी दृष्टव्य है -

प्रवचनसार ज्ञेयाधिकार, गाथा नं. 83 से 88 का सारांश –

"यही दशा संसारी जीव की है। यह भी बाह्य-विषयों में सम्बन्ध करके फँसा रहता है इसलिए कर्माधीन बना रहता है। मतलब यह है कि जीव के रागद्वेषादि भावों के निमित्त से) कारण से कर्मों का बन्ध हो रहा है (सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः)। यह बन्ध तीन तरह का होता है। 1. केवल पुद्गल का 2. केवल जीव का

और 3. जीव और पुद्गल का यही आगे बताते हैं। पुद्गल का पुद्गल के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह उसके स्निग्धत्व और रूक्षत्व रूप स्पर्श को लेकर संस्पर्शात्मक सम्बन्ध होता है। जीव का जीव के साथ में जो सम्बन्ध होता है वह केवल रागद्वेषमय मोहभाव के द्वारा संभावनात्मक सम्बन्ध होता है। यह पति, पत्नी, पिता, पुत्रादिक के रूप में अनेक प्रकार का होता है जीव के साथ कार्माण पुद्गलों का जो सम्बन्ध होता है वह परस्पर संश्लेषात्मक (अन्योन्यप्रवेशण) एकक्षेत्रावगाह रूप होता है। यह दो प्रकार का होता है - 1. परिस्पन्दनरूप योगभाव के द्वारा जीव के प्रदेशों में कर्मवर्गणायें प्रवेश पाती हैं। 2. उस जीव के कषायभाव की तीव्रता और मन्दता को लेकर वे वहाँ पर कर्मरूप में ठहरीं रहती हैं। फिर उदयकाल में इस जीव को अपना फल दिखलाती हुई वे आगे के लिए कर्मबन्ध के कारणभूत रागद्वेषभाव को उत्पन्न करके निर्जीण हो जाती हैं। मतलब यह है कि कर्माधीन होकर जबतक राग-द्वेष करता रहता है तबतक नूतन कर्मों का बन्ध करता रहता है।" (द्रव्यबन्ध से भावबन्ध और भावबन्ध से द्रव्यबन्ध)

उपरोक्त प्रकार बन्धस्वरूप का निरूपण आ. श्री ने किया है यह सभी व्यवहार नय का विषय है। कर्मबन्ध और आत्मा का भेदविज्ञान भी व्यवहार ही है। इसकी उपयोगिता आत्म के शुद्धस्वरूप निश्चय की प्राप्ति पर्यन्त है। बन्ध को काटने से वह नष्ट होगा मात्र जानने से नहीं। आत्मा भिन्न है, कर्म भिन्न है यह ज्ञान तभी सार्थक होगा जब वस्तुत: भिन्न होंगे। निश्चय के एकान्त को पकड़कर भ्रम से वर्तमान कर्मबद्ध अवस्था को अपनी न मानने मात्र से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष रूप से स्वयं संसारी है कर्मबद्ध पर्याय का धनी है। कर्मबद्ध पर्याय को न मानकर अपने को भ्रम से मुक्त मानकर पुरुषार्थहीन होकर झूठे क्रमबद्ध पर्याय का राग अलापना तो प्रगाढ़ मिथ्यात्व है, गृहीत मिथ्यात्व है। आ. ज्ञानसागरजी की महती कृपा है जो उन्होंने निश्चय-व्यवहार की सापेक्षता रूप अनेकान्त के दर्शन अपने वाङ्मय में पद-पद पर कराये हैं।

यत: आचार्य महाराज का नय निरूपण तत्त्वों की गहराई तक हमें ले जाता है अत: नव-तत्त्वों का स्वरूप-सारांश जो उन्होंने हमें दिया उस पर भी दृष्टिपात करना उपयोगी रहेगा। निश्चय नय की अपेक्षा तो सात तत्त्व या नव-पदार्थों का अस्तित्व दृष्टिगत नहीं होता व्यवहार का विषय हैं। निश्चय से तो संसार मोक्ष का सद्भाव ही नहीं है वह तो एक्स-रे के फोटो के समान है जिसमें बाह्य कुछ दिखाई नहीं देता। भले ही स्टुडियो के फोटो के समान व्यवहार का विषय भी वस्तुभूत हो। अस्तु। अब प्रस्तुत है उनका आगमाधारित सारांश, पदार्थों विषयक निरूपण, विवेकोदय पृष्ठ-81

37. सम्यग्दर्शन के विषयभूत नव-पदार्थों का स्वरूप

"1. जीव – आत्मा चेतनामय सदा (निश्चय से) ज्ञाता पर से भिन्न त्रिकाल स्थायी है। जब वह आत्मोन्मुख निमित्तक परावलम्ब से (व्यवहार से) मुक्त होता है तब शुभभाव और जब आत्मविमुख परपदार्थावलम्बन से युक्त होता है तो अशुभ-भाव करता है किन्तु जब स्वालम्बी बनता है; तो शुद्धभावमय होता है।

2. अजीव – जिनमें चेतना नहीं होती ऐसे पाँच द्रव्य हैं 1. धर्म, 2. अधर्म, 3. आकाश, 4. काल, 5. पुद्गल । इनमें पुद्गल स्पर्शादिमान होने से मूर्तिक है बाकी चारों उनसे रहित अमूर्तिक हैं । गतिशील पुद्गल और जीव जब गमन करते हैं तो मछली को जल की तरह उनको उदासीनता रूप से सहकारी होना धर्मद्रव्य का कार्य है और जब व ठहरते हैं रेल को स्टेशन की भाँति उदासीन रूप से सहकारी होना अधर्म-द्रव्य का कार्य है । सब चीजों को जगह देना आकाश का और सब चीजों के परिवर्तन में सहकारी होना काल का कार्य है । आपस में एक-दूसरे से मिलना एवं बिछुड़ना तथा स्थूल सूक्ष्म होना किञ्च सरागी जीव के साथ में भी कर्मत्व भाव को प्राप्त होकर मेल करना इत्यादि यह सब पुद्गलों का कार्य है । उक्त पाँचों वस्तुएं आत्मा से भिन्न, आत्मा इनसे भिन्न तथा अनन्त आत्मायें भी एक-दूसरे से भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है । पर संयोग सम्बन्ध से रहित एकाकी द्रव्य हों उनमें विकार नहीं होता । पराभिमुख जीव के पुण्य-पापरूप विकार भाव होता है । जीव के रागादिरूप विकार को लेकर जड़ कर्मरूप सूक्ष्म धूल क्षणिक संयोग संबंध के द्वारा उसके साथ के बन्ध को प्राप्त होती है । अपने स्निग्ध और रूक्ष गुण विशेष को लेकर पुद्गल परमाणुएँ आपस में भी मिलकर स्कन्ध रूप में परिणत होती हैं ।

3. दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि के रूप में जीव के भाव होना भाव-पुण्य और उसके निमित्त से जड़ परमाणुओं का समूह जो सांसारिक सुख सम्पादन शक्ति को लिये हुए इस आत्मा के साथ सम्बन्धित होता है वह द्रव्य-पुण्य कहलाता है ।

4. हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील वगैरह रूप आत्मा के संक्लेश परिणामों का नाम भाव-पाप और उसके निमित्त से जो पुद्गल परमाणुओं का समूह दु:खदायक शक्ति को लिए हुए आत्मा के साथ संयुक्त होता है वह द्रव्य-पाप है ।

5. आत्मा में शुभाशुभरूप विकार भावों का होना वह भावास्रव है और उसके द्वारा जो नवीन ज्ञानावरणादिरूप कर्मपरमाणुओं का आना होता है सो द्रव्यास्रव कहलाता है ।

6. संवर – आत्मा के निष्कषायरूप परिणामों का नाम भावसंवर और उससे नूतन कर्म आने में रोक लग जाने का नाम द्रव्य-संवर है ।

7. निर्जरा – तत्त्वाभ्यास के बल से प्राप्त हुई आत्मीयदृढ़ता के द्वारा क्रमश: आत्मा की कलुषता के कम होने का नाम भाव-निर्जरा और उसके निमित्त से कर्म परमाणुओं का अंशत: खिर जाना सो द्रव्य-निर्जरा कहलाती है ।

8. बन्ध – आत्मा का रागद्वेषादिरूप विकार भावमय हो रहने का यानी परतन्त्र हो रहने का नाम भावबन्धहै और कर्मरूप शक्ति को लिये हुए कर्मपरमाणुओं का आत्मा के साथ में लगे रहने का नाम द्रव्यबन्ध है ।

9. मोक्ष – आत्मा की अशुद्ध अवस्था का अभाव होकर पूर्ण शुद्ध अवस्था में आ जाना सो भाव-मोक्ष और उसके निमित्त-कारण द्रव्यकर्मों का पूर्ण नाश हो जाना सो द्रव्य-मोक्ष है ।"

38. नय-निरूपण स्थल

आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय के कतिपय

उपयोगी समझकर यहाँ आदर्श के तौर पर उनके कुछ वाक्यों को उद्धृत कर कर रहा हूँ, ताकि पाठकों को एक दृष्टि में भाव को हृदयंगम करने में सुविधा हो। संभव है कि कतिपय वाक्यों की, पूर्व में आलेख में प्रयुक्त होने के कारण पुनरावृत्ति हो।

1. "हाँ, निश्चय की दृष्टि में व्यवहार अगर गलती पर है तो व्यवहार की दृष्टि में निश्चय भी झूठा है। श्री आचार्य महाराज (कुन्दकुन्द स्वामी) ने तो जगह-जगह दोनों को ही अपने-अपने विषय में उपयोगी बतालाय है। (विवेकोदय, पृ. 15)

2. निश्चय नय प्रतिषेधक है क्योंकि व्यवहार के बाद में आता है और उसके प्राप्त फिर व्यवहार नहीं रहता। व्यवहार प्रतिषेध्य है निश्चय के नीचे होकर पूर्व में रहता है। (विवेकोदय, पृ. 15)

3. सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की अवस्था है इसलिए वह भी व्यवहार है। मतलब इस सबका यह है कि शुद्धात्मस्वरूप की श्रद्धा को लिए हुए व्यवहार नय का अनुयायी चतुर्थादि गुणस्थानवर्त्ती जीव व्यवहार सम्यग्दृष्टि होता है; किन्तु स्पष्ट चारित्र-दशा के साथ एकता को स्वीकार किये हुए परम वीतराग आत्मानुभवमग्न जीव जो हो वह निश्चय सम्यग्दृष्टि होता है। (विवेकोदय, पृ. 18)

4. **आपा पर का भेद जहाँ तक भी विचार बना रहे।**
सम्यग्दर्शन बोध वृत्त के पालन में मन सना रहे ॥
यह तो है व्यवहार और निश्चय नय का है यह बाना।
और सभी को भुला आपका अपने में ही लग जाना ॥16॥

(विवेकोदय, पृ. 21)

5. निश्चय नय का स्वरूप है जो कि साध्य है व्यवहार उसका साधन है साधन के बिना साध्य कहाँ। .... निश्चय नय सामान्य को ग्रहण करती है तो व्यवहार नय उसके विशेष को एवं दोनों का तादात्म्य है। .... अतः व्यवहार नय की एकदम उपेक्षा कर देना ठीक नहीं है क्योंकि निश्चय का परिचायक कभी व्यवहार नय ही है। .... फिर भी इस नय का (अशुद्ध निश्चय का) अवलम्बन जबतक बना रहता है तब तक कर्त्तृकर्म भाव विद्यमान होने से जन्म-मरण रूप संसार से नहीं छूट सकता अपितु इससे भी पार होकर (शुद्धनय के विषय) निर्विकल्परूप शुद्धभाव को अपनाता है तभी संसार का उच्छेद कर पाता है। (विवेकोदय, पृ. 25)

6. शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा में तो शुद्ध वीतराग भावों का और अशुद्ध निश्चय नय से शुभ और अशुभ रूप अपने विकार भावों का (आत्मा) कर्त्ता है किन्तु व्यवहार नय से वही पौद्गलिक कर्मों का भी कर्त्ता है। (विवेकोदय, पृ. 24)

7. जब यह आत्मा निश्चय नय पर पहुँचता है तो वहाँ शुक्लध्यान को प्राप्त करता है। (विवेकोदय, पृ. 47)

8. कर्त्तव्यपरायणता का नाम ही व्यवहार नय है । (विवेकोदय, पृ. 48)

9. निश्चय और व्यवहाररूप जो नय है उनमें अपने-अपने विषय के भेद से परस्पर विरोध प्रतीत होता है । इसी विरोध को जो अपने स्याद् पद के प्रभाव से बिल्कुल मिटा देनेवाला है ऐसे जिनशासन में जो लोग रमण करते हैं वे लोग सहज से ही मिथ्यात्व का वमन कर निर्मोह होते हुए शीघ्र ही समयसार को अर्थात् शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेते हैं । (विवेकोदय, पृ. 258)

10. मतलब व्यवहार-मोक्षमार्ग की सम्पत्ति नियम से निश्चय-मोक्षमार्ग की साधक है । (विवेकोदय, पृ. 85)

11. निश्चय तो तीर्थफल है, रूप है और व्यवहार तीर्थ अर्थात् इसकी प्राप्ति का उपाय। (विवेकोदय, पृ. 86)

12. जैसे कि मैल का संयोग पाकर कपड़े की सफेदी नष्ट हो जाती है और वह मैला बन जाया करता है वैसे ही मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायों के द्वारा इस आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सच्चरित्र ये तीनों नष्ट हो रहे हैं न कि चादर से ढके हुए घटादि की भाँति छुपे हुए हैं । इसीलिए यह जीवात्मा मोही यानी पागल बना हुआ है । (विवेकोदय, पृ. 89)

13. इस समयसारजी की दृष्टि में तो चतुर्थ गुणस्थानी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होता । (विवेकोदय, पृ. 105)

14. हाँ, यह बात अवश्य कि उस लाण (भूसा) के हुए बिना धान्य नहीं हो सकता। उसी प्रकार बिना त्याग तपश्चरण के परम समाधि परिणाम नहीं हो सकता जिससे कि मुक्ति हो जाये किन्तु तपश्चरण मात्र से तो स्वर्ग सम्पत्ति की प्राप्ति होगी मुक्ति नहीं। (विवेकोदय, पृ. 106)

15. एक बाह्य-दृष्टि होती है और दूसरी अन्तरङ्ग-दृष्टि । बाह्य-दृष्टि का निमित्त पर लक्ष्य होता है और अन्तरङ्ग-दृष्टि उस पदार्थ के खुद के परिणमन पर निगाह करती है; इन्हीं को व्यवहार और निश्चय नय कहते हैं । (विवेकोदय, पृ. 120)

16. स्याद्वाद सिद्धान्त को माने बिना काम नहीं चलता । (विवेकोदय, पृ. 140)

17. पदार्थ का परिणमन भी कथञ्चित् स्वतन्त्र और कथञ्चित् परतन्त्र भी माना गया है। (विवेकोदय, पृ. 141)

१८ निमित्त कोई चीज नहीं या वह बिल्कुल कुछ भी करता ही नहीं सो बात नहीं है। (विवेकोदय, पृ. 145)

19. यथाजात नग्न परम दिगम्बर अवस्था रूप व्रत स्वीकार किये बिना आत्मानुभवरूप अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए तद्भव रूप से उसको (दिगम्बरत्व को) भी मोक्षमार्ग कहा जाता है। (विवेकोदय, पृ. 158)

प्रवचन में से उद्धृत निम्न वचनामृत

20. शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी दोनों ही मोक्षमार्गी हैं दोनों ही धर्मात्मा हैं...... (शुद्धोपयोगी) साक्षात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ...... शुभोपयोगी जीव अपूर्ण धर्मात्मा होता है। (पृ. 7)

21. ऐसे ही जो मनुष्य शुभभाव को ही पर्याप्त समझ रहा है वह शुद्धता को कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह तो अपने विचार के अनुसार सदा अशुद्ध ही बना रहेगा। (पृ. 46)

22. अशुभ-भाव से शुभ-भाव पर आये बिना शुद्ध-भाव पर नहीं पहुँचा जा सकता है। (पृ. 46)

23. चतुर्थादि सकषाय गुणस्थानों में जो सम्यग्दर्शन होता है वह व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहलाता है। .... निश्चय (वीतराग) सम्यग्दर्शन तो महर्षि लोगों के परम समाधि काल में ही बनता है। (पृ. 18)

24. साधारण विचारधारा को सामान्य दृष्टि या द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और असाधारण को विशिष्ट-दृष्टि या पर्याय-दृष्टि कहते हैं। (पृ. 67)

25. जैनागम में बताया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय - ये तीनों ही जानने योग्य हैं। इनमें परस्पर तादात्म्य नामक अविनाभाव सम्बन्ध बना हुआ है। (विवेकोदय, पृ. 53)

26. गृहस्थावस्था में तो इन शुभोपयोग की बातों का करना ही परम् कर्त्तव्य कहा गया है, क्योंकि गृहस्थ दशा में शुद्धोपयोग का होना सर्वथा असंभव ही है। मुनि के लिए शुभोपयोग गौणरूप है; किन्तु गृहस्थ के लिए तो वही मुख्य रूप कहा गया है। (विवेकोदय, पृ. 150)

सम्यक्त्वसार शतक में से उद्धृत वचनामृत

27. दो चीजों के मेल में विकार आये बिना नहीं रहता। अपने सहज क्रमबद्ध परिणमन के स्थान पर व्युत्क्रम को ही अपनाना पड़ता है।

28. है भव्य पुरुषो, निश्चयैकान्त एक ऐसा गहन गृहीत मिथ्यात्व है कि जीव अपने आपको महान् आध्यात्मिक व बौद्धा समझता हुआ भी अमितकाल तक संसार सागर से पार नहीं हो सकता। (पृ. 14)

29. ..... जीव को और देह को एक बतलाया करता है वह व्यवहार नय होता है; किन्तु जो जीव को देह को, कभी भी एक न बताकर सर्वदा भिन्न-भिन्न बतलाता हो वह निश्चय नय है। (पृ. 55)

30. (सम्यग्दृष्टि) यद्यपि शरीर से आत्मा को भिन्न मानता है अत: शरीर में से बहनेवाले पसीने को आत्मा की क्रिया न मानकर उसे शरीर की क्रिया मानता है, परन्तु खाना-पीना, स्त्री-सम्भोग करना और वस्त्र धारणकरने जैसी क्रियाओं को निरे शरीर की ही क्रिया नहीं मानता बल्कि वहाँ पर शरीर और आत्मा को एक जानकर उन्हें तो अपने ही द्वारा की हुई मानता है । इस प्रकार निश्चय नय सहित व्यवहार नय का अनुयायी होता है । (पृ. 56)

31. स्वरूपाचरण तो उस आत्मानुभव का नाम है जो कि संज्वलन कषाय के भी न होने पर होता है । (श्रेणी - गत साधु के) (पृ. 145)

32. वीतराग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय परिणाम का नाम ही स्वरूपाचरण चारित्र है । (पृ. 247)

समयसार में से उद्धृत वचनामृत

33. असत्यार्थ का अर्थ सर्वथा निस्सार नहीं लेना चाहिए किन्तु 'अ' का अर्थ ईषत् (अल्प) लेकर व्यवहार नय अभूतार्थ अर्थात् तात्कालिक प्रयोजनवान है ऐसा लेना चाहिए। (समयसार, पृ. 14-15)

34. जीव को विकारी बनाने में कर्म उदासीन निमित्त है किन्तु जीव का विकारी भाव पुद्गल को कर्मरूप करने में असाधारण निमित्त है । (समयसार, पृ. 96)

35. कर्त्तापन मुख्यता से तीन प्रकार का है - 1. शरीरात्मक, 2. अविरतात्मक, 3. विरतात्मक (समयसार, पृ. 104, विशेषार्थ देखें)

36. **विशेषार्थ** – निश्चयनय अभिन्न तादात्म्य संबंध या उपादान-उपेय भाव को ही ग्रहण करता है । उसकी दृष्टि संयोग सम्बन्ध पर नहीं होती जबकि व्यवहार नय संयोग सम्बन्ध और निमित्त-नैमित्तिक भावों को बतलानेवाला है । इसलिए आचार्य महाराज (जयसेन स्वामी) कहते हैं कि आत्मा निश्चय नय से तो अपने भावों का ही कर्त्ता-भोक्ता है किन्तु व्यवहार नय से वह द्रव्य-कर्मों का करनेवाला और भोगने वाला भी है । यह व्यवहार नय समाधि अवस्था से च्युत अज्ञान दशा में स्वीकार किया जाता है किन्तु समाधि दशा में निश्चय नय का अवलम्बन रहता है । (समयसार 81)

समयसार के अन्य स्थल पहले विवेकोदय में से उद्धृत किये ही गये हैं । उपरोक्त प्रकार आचार्य ज्ञानसागरजी के नय-निरूपण के कुछ संकेत बिन्दु हमने प्रस्तुत किये हैं । इनसे पाठक की एक ही दृष्टि में आचार्यश्री के अनेकान्त निरूपण रस का आस्वादन हो सके ।

39. नय-निरूपण का वाच्यार्थ, कारकों के परिप्रेक्ष्य में

1. **कर्त्ता–कारक** – नय ही निरूपण होता है । यत: नय स्वयं, शब्द या शब्दात्मक या शब्दस्वरूप है । वह किसी-न-किसी वाच्य का वाचक या निरूपक है । अत: नय का अर्थ ही निरूपक या निरूपण (भाववाची) सिद्ध होता है । आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने यत्र-तत्र इसे कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त किया है । सारांश यह है कि 'नय एवं निरूपण कर्त्ता । नय की परिभाषा भी है 'नयतीति नय:' ।

2. **कर्म–कारक** – 'नय निरूपणं' । जहाँ नय को निरूपित किया जाता है, नय का स्वरूप बताया जाता है वहाँ नय कर्म-कारक के रूप में स्वीकार करने योग्य है । जहाँ निश्चय-व्यवहार नय को आचार्य ज्ञानसागरजी ने व्याख्यायित किया है ऐसे अनेकों स्थल उनके वाङ्मय में विद्यमान है ।

3. **करण–कारक** – 'नयेन निरूपणं ।' नय के द्वारा निरूपण । आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने इस विभक्ति का बहुधा प्रयोग किया है । निश्चयनयेन अर्थात् निश्चय नय की अपेक्षा व व्यवहारनयेन अर्थात् व्यवहार नय की अपेक्षा । ठीक ही है नय की समीचीनता भी अपेक्षा से ही है ।

4. **सम्प्रदान–कारक** – 'नयाय निरूपणं ।' नय के लिए निरूपण । जहाँ नय ही मुख्य हो अतिथि की तरह और वही इष्ट हो, उसके लिए या उसकी सिद्धि हेतु निरूपण हो वहाँ नय सम्प्रदान के रूप में प्रकट होता है । आचार्य महाराज के वाङ्मय में किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर नय ही अभीष्ट के रूप में प्रकट है ।

5. **अपादान** – 'नयात् निरूपणं ।' नय से निरूपण । आचार्यश्री के व्याख्यान में इस रूप में भी नय की उपलब्धि होती है । वहाँ उनका कथन नय स्वरूप में से निर्गमित होता हुआ दृष्टिगत होता है ।

6. **सम्बन्ध** – षट् कारक में सम्बन्ध सम्मिलित नहीं है । विभक्ति तो मान्य है ही। 'नयस्य निरूपणम् ।' अर्थात् नय का निरूपण । पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के वर्णन शिल्प में यह प्राय: स्पष्ट ही है । नय स्वरूप का विवेचन, नय का उद्देश्य, परिभाषायें व्युत्पत्तियाँ आदि इसके अन्तर्गत हैं । नय तो अनेकांत का भेद ही है । अत: नय का निरूपण अनेकान्त अथवा जैनशासन-जिनवाणी का ही निरूपण है ।

7. **अधिकरण** – 'नये निरूपणम्' । अर्थात् नय में प्रवेश कर व्याख्यान करना । यह बात सर्वत्र ध्यान में रखने योग्य है कि यदि ज्ञानी व्यक्ति, आगम का वेत्ता, गुणस्थान मार्गणास्थानों के स्वरूप को समझनेवाला व्यक्ति नय-संसार में या नय-चक्र में प्रवेश करता है तो स्व-पर हित योग्य वचन मणियों को निकाल लेता है । अन्यथा तो एकान्त को

ग्रहण कर कुगति का पात्र होता है । आचार्य ज्ञानसागर महाराज नय समूह में अवगाहन करते हुए, उसको अधिकरण बनाते हुए कुशल लेखक एवं वक्ता के रूप में सिद्ध हुए थे । वक्ता यदि विरक्त होता है तो नय की शोभा है ।

यहाँ इस प्रसंग में एक बात और ध्यान में आती है कि उपरोक्त प्रकार ही शुद्धोपयोग और स्वरूपाचरण के विषय में नियोजन किया जा सकता है । तथा विभक्ति के अनुसार अर्थ करने पर इनकी विभिन्न गुणस्थानों में विद्यमानता विषयक भ्रान्ति का निवारण हो सकता है । जैसे 'शुद्धाय उपयोग: शुद्धोपयोग:' अर्थात् शुद्ध के लिए जो उपयोग, ज्ञानदर्शन की प्रवृत्ति । अभी उपयोग निर्मल हुआ नहीं है लक्ष्य मात्र है । निचले गुणस्थानों में इसी प्रकार संभव है । 'शुद्धश्चासौ उपयोग:' शुद्धोपयोग: अर्थात् पूर्ण शुद्ध रागादि विकार से रहित शुक्लध्यानरूप उपयोग यह श्रेणी आरोहण की अवस्था में होता है ।

जिज्ञासुगण उपरोक्त प्रकार नय निरूपण के विशाल आयाम को हृदयंगम करने हेतु आचार्य ज्ञानसागरजी के वाङ्मय में सभी कारकों से अर्थ ग्रहण करते हुए उदाहरण आदि को संग्रहीत कर सकते हैं ।

४०. आचार्य ज्ञानसागर महाराज के नय निरूपण का सारांश

प. पू. आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने निश्चय-व्यवहार नय निरूपण अपने वाङ्मय में प्रचुरता से किया है । प्रस्तुत प्रबन्ध में इसका दिग्दर्शन संक्षेप में ही कराया गया है । यहाँ सारांश प्रस्तुत है ।

जीवादिक पदार्थों के परिज्ञान के लिए प्रमाण और नयों की उपयोगिता है । जिस प्रकार हम किसी वस्तु को हर पहलू में घुमा-फिरा कर देखते हैं उसी प्रकार विभिन्न नयों (Points of view) या दृष्टिकोणों से समन्वित रूप में हमें जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानना आवश्यक है । वस्तु अनन्त धर्मात्मक है । अत: किसी एक ही नय द्वारा उसका सर्वांगीण ज्ञान अशक्य है । हाँ, 'अर्पितानर्पित सिद्धे:' इस वचन के अनुसार किसी नय को किसी समय में मुख्य और किसी को गौण करना पड़ता है । नयों को चक्षु की उपमा दी गई है । प्रयोजनवश हम एक आँख से काम लेते हैं तो अन्य समय में दूसरी से । कौनसा नय किस अवस्था में प्रयोजनीय है इस विषय में पू. आ. श्री ने हमें निर्देश दिया है कि जो शुद्धनय तक पहुँच कर श्रद्धावान्, ज्ञानवान् एवं चारित्रवान् हो गये हैं अर्थात् परमभावदर्शी हैं उनको तो शुद्धद्रव्य का कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है किन्तु जो अपरम भाव में (गृहस्थ की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान तक तथा मुनि की अपेक्षा छठवें व सातवें गुणस्थान) स्थित हैं उनके लिए व्यवहार नय का उपदेश किया गया है ।

व्यवहार नय को समयसार जैसे शुद्ध अध्यात्म एवं विशुद्ध निश्चय-रत्नत्रयात्मक ध्यान विषयक ग्रन्थों में अभूतार्थ भी कहा गया है, जिसका अर्थ असत्यार्थ भी किया गया है। इसका मतलब यही है कि जब योगी शुद्धोपयोग की दशा में पहुँचता है उसकी अपेक्षा यह अप्रयोजनभूत है। इसका आशय यह नहीं है कि यह सर्वथा असत्यार्थ है। अपने विषय की अपेक्षा अथवा प्रमाण की दृष्टि में वह भी उतना ही भूतार्थ है जितना कि निश्चय। आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में बतलाया है कि जब कमल को जल-सम्पृक्त अवस्था की दृष्टि से देखते हैं तो 'कमल जल में हैं' यह व्यवहार कथन भूतार्थ है। जब जल को गौण करके मात्र कमल को देखते हैं तो 'कमल जल से भिन्न हैं' यह निश्चय कथन भूतार्थ है। वास्तविकता यह है कि कोई नय न तो सर्वथा भूतार्थ है और न अभूतार्थ। प्रयोजनवश ही किसी नय की सत्यार्थता होती है प्रयोजन निकल जाने पर वह अभूतार्थ या असत्यार्थ कहलाता है। आचार्य ज्ञानसागरजी ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है कि जैसे 'अर्हन्तनाम सत्य है' यह वाक्य शवयात्रा में तो भूतार्थ है किन्तु वरयात्रा में असत्यार्थ। यदि वरयात्रा में इसका प्रयोग करें तो अशुभ, निन्दा, अकल्याण सूचक है, बोलनेवाला दण्ड का पात्र है। निश्चय नय की भूतार्थता के विषय में वर्तमान में कोई विवाद नहीं है। व्यवहार नय को ही हेय कहकर मोक्षमार्ग का लोप करने का प्रयास अवश्य दृष्टिगत होता है। यदि व्यवहार नय सर्वथा अभूतार्थ होता तो उसे अनेकान्त सम्यक् प्रमाण के भेदों में कैसे स्थान मिलता और कुन्दकुन्द स्वामी भी उसका प्रयोग क्यों करते, अकेले निश्चय नय के बल पर समयसार को व्याख्यायित कर लेते। एक आँखवाले को काना न कहा जाता। दोनों आँखवाले को भी सूझता नहीं कहा जाता। पुनश्च, नय की सर्वथा सर्वस्व नहीं है। प्रज्ञाचक्षु के समान प्रमाण ही सबका नियन्ता है। अन्धे या नेत्र बन्द करनेवालों की मूक ज्ञान प्रवृत्ति कोई कम महत्व की नहीं है। दोनों ही नय बकवादी है। आनन्द का अनुभव बोलने में नहीं है रसास्वादन में है। इसी हेतु योगीजन आत्मसमाधि में तल्लीन होने का सतत प्रयत्न करते हैं। नय चाहे व्यवहार हो या निश्चय, सभी नयवादों को परसमय घोषित किया गया है। अतः निश्चय नय भी स्वसमय रूप नहीं है। वह भी स्वसमय होने के लिए है। स्वसमय अर्थात् अभेद रत्नत्रय रूप परम समाधि में लीन होने की स्थिति में सभी नय प्रमाण एवं निक्षेप अस्तगत ही रहते हैं।

निश्चय नय-परक अध्यात्मग्रन्थों का पात्र वस्तुतः संसार, शरीर, भोगों से अन्तःकरण से विरक्त एवं बाह्यरूप से निर्ग्रन्थ साधु ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन ग्रन्थों को गृहस्थों को पढ़ना ही नहीं चाहिए अपितु ये ग्रन्थ मुनिपरक उपदेशत्व को ध्यान में रखकर ही अध्येय है। इस सावधान से अध्यात्म का हार्द समझने में चूक न होगी।

व्यवहार नय बाहरी फोटो के समान पदार्थ के बाह्य रूप का चित्रण करता है, निश्चय नय एक्स-रे के फोटो के समान अन्तरंग एवं निर्लिप्त रूप का चित्रण करता है। दोनों ही

चित्रण वस्तुगत हैं, कुछ अवस्तु नहीं । आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है (समयसार) कि जिस प्रकार अनार्य भाषा के बिना म्लेच्छ को समझाना अशक्य है उसी प्रकार बिना व्यवहार के निश्चय का उपदेश अशक्य है । जिस प्रकार अक्षर के भेद-प्रभेद रूप विन्यास के बिना बालक को सर्वप्रथम ही अक्षर ज्ञान नहीं हो सकता, अपितु उसे 'अ' के पेट, चूलिका, दण्ड, रेखा (' , । -) अलग-अलग बताने पड़ते हैं तथा तभी उन अवयवों से ही 'अ' बनता है, उसी प्रकार खण्डशः वर्णन रूप व्यवहार नय प्राथमिक जीवों को उपयोगी है एवं व्यवहार भेदों के एकत्रीकरण से ही निश्चय का स्वरूप निष्पन्न होता है । आशय यह है कि व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य । पूर्व में मोक्षमार्ग को भी व्यवहार एवं निश्चय दो प्रकार बताकर साधन-साध्य भाव प्रकट किया ही है । द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नय-चक्र में माइल्लधवल में कहा है -

णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धो कया विणिद्दिट्ठा ।
साहण हेऊ जम्हा तम्हा य भणिय सो ववहारो ॥

- बिना व्यवहार के तीन काल में भी निश्चय की सिद्धि निर्दिष्ट नहीं की गई है। सिद्धि का कारण होने से ही उसे व्यवहार कहते हैं । आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने अपने वाङ्मय में इसी आर्षभाव की सम्यक् सिद्धि की है । आचार्य अमृतचन्द्रजी ने पञ्चास्तिकाय की टीका में इस साध्य-साधन भाव को दृढ़ता से गाथा नं. 167 से 178 तक प्रतिपादित किया है अवश्य पठनीय है । उन्होंने दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों रत्नों को व्यवहार और निश्चय दोनों रूपों को मान्यता दी है । व्यवहार को निश्चय का बीज प्रतिपादित किया है। यानी व्यवहार ही निश्चय के रूप में परिणमित हो जाता है जो निश्चय और व्यवहार में से किसी भी एक का पक्षपात करता है वह देशना का फल प्राप्त नहीं करता । उसके लिए तो उपदेश ही व्यर्थ है । कहा भी है -

व्हारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्य ।।पु. सिद्धि-8॥

किसी नय की अवहेलना वस्तु तत्त्व की अवहेलना है । नय तो जानने के लिए है। समय-समय पर प्रत्येक नय काम में आता है । आ. अमृतचन्द्रजी ने गोपिका के उदाहरण से मुख्य - गौण करने रूप अनेकान्तमय जैनी नीति को निम्न आर्या में प्रस्तुत किया है -

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ।।पु. सि. 225॥

- जैसे गोपिका मक्खन निकालने के लिए मथानी की रस्सी के दोनों छोरों को पकड़े रहती है एक को खींचती है दूसरी को ढीला करती है उसी प्रकार तत्त्व प्राप्ति का इच्छुक रस्सी स्थानीय प्रमाण के दोनों अंश व्यवहार-निश्चय इनमें से किसी को छोड़ता नहीं है

यथा समय मुख्य-गौण करता है । तत्त्व प्राप्ति के बाद तो दोनों ही छूट जाते हैं । प्रमाण का कार्य ही नहीं रहा ।

41. निश्चयाभास

जो शुद्ध अध्यात्म प्रमुख ग्रन्थों का पठन करके निश्चय नय के वास्तविक अर्थ को न जानता हुआ व्यवहार धर्म, शुभ प्रवृत्ति, शुभोपयोग रूप अणुव्रत और महाव्रत रूप सरागचारित्र को सर्वथा हेय मानता है, निमित्त को कुछ भी कार्यकारी नहीं समझता, जिसने पाप क्रियाओं को अब तक छोड़ा नहीं है, जिसे गुणस्थान मार्गणास्थान आदि विषयक करणानुयोग में ज्ञान विश्वास नहीं है तथा जो दान-पूजा आदि शुभ-कार्यो को सर्वथा बन्ध का कारण मानता है, चारित्र एवं चारित्रधारी मुनि आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओं की उपेक्षा करता है वह निश्ययाभासी है । उसका निश्चय आभास-मात्र, कथन मात्र है, वह निश्चयैकान्ती है ।

जीव को शुद्ध निश्चय नय से कर्म का अकर्त्ता कहा गया है एवं शुभभाव को हेय कहा गया है । उसी कथन को सम्पूर्ण सत्य मानकर वह वैसा ही निरूपण करता है । द्रव्य व गुण को सर्वथा शुद्ध मानता है पर्याय को द्रव्य से भिन्न मानकर विकार को पर्यायगत ही समझता है । परन्तु आप साक्षात् रागी-द्वेषी हो रहा है । उस विकार को पर मानकर उससे बचने का उपाय नहीं करता । यद्यपि वस्तुतः स्वयं अशुद्ध है तथापि भ्रम से अपने को शुद्ध मानकर एक उसी शुद्ध आत्मा का चिन्तन करने का असफल प्रयास करता है । पर्याय जबकि द्रव्य से तन्मय है फिर भी उसे अस्पृष्ट मानकर सन्तुष्ट होता है । इस मान्यता का जीव दही-गुड़ खाकर प्रमादी हुए के समान आत्मस्वरूप से च्युत बहिरात्मा है ।

निश्चयैकान्ती एक ज्ञानमात्र को ही सम्पूर्ण मोक्षमार्ग मानता है तथा चारित्र तो स्वतः हो जायेगा, ऐसा जानकर चारित्र और तप हेतु उत्साही नहीं होता । नियतिवाद, क्रमबद्धपर्याय और कूटस्थता के एकान्त-ज्वर से पीड़ित रहता है । समय प्राभृतादि अध्यात्म के उपदेश का अनर्थकर अर्थात् सम्यग्दृष्टि अबन्धक है, वह भोगों से निर्जरा करता है ऐसा श्रद्धान कर भोग व पाप से विरक्त नहीं होता । पाप-पुण्य को बराबर समझ कर पाप से नहीं छूटता। शुभोपयोग को किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग का साधक नहीं मानता । व्यवहार-मोक्षार्ग को मोक्षमार्ग ही स्वीकार नहीं करता । भ्रम से अपने को ज्ञान-वैराग्य शक्ति से रहित होने पर भी सम्यग्दृष्टि एवं मोक्षमार्गी मानता है । प्रथम ही निश्चय-मोक्षमार्ग तथा बाद में व्यवहार का सद्भाव अर्थात् उल्टा कारण कार्यभाव मानता है । मोक्ष के निश्चय (इरादे) को ही निश्चय सम्यग्दर्शन मान लेता है । व्यवहार के कथन को अवास्तविक घोषित करता है कि 'यह कहा है, ऐसा है नहीं ।' विवक्षा को नहीं समझता । मात्र शुद्धोपयोग के गीत गाता हुआ अशुभ परिणामों से नरकादि कुगति का पात्र होता है । जिनवाणी के चारों अनुयोगों में केवल द्रव्यानुयोग को ही हितकर मानता है । इसी प्रकार की नाना विपरीत मान्यताओं से युक्त निश्चयाभासी स्वयं तो अपनी हानि करता ही है साथ ही सांख्यमत की अवधारणा को पुष्ट कर समाज को भी पाप के पंक में डुबो लेता है ।

42. व्यवहाराभास

जिसको अनेकान्तात्मक मोक्षमार्ग का परिचय नहीं है मात्र व्यवहार नय द्वारा कथित मार्ग का भी अवलम्बी है तथा अनेकान्त के भेद निश्चय नय के द्वारा जिसको वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं है मात्र बाहरी क्रिया-कांड को धारण करता है । देखादेखी और भावारहित अर्थात् बिना किसी निर्धारण के तप संयम अङ्गीकार करता है । श्रावक की स्थिति में तत्प्रायोग्य षट्कर्म की प्रवृत्ति में सावधान भी रहता है एवं साधु अवस्था में व्रत एवं मूलगुण आदि में रत रहता है किन्तु भाववबोध से रहित है, जिसको अपनी भाव परिणति बिगड़ती रहने का भय नहीं है । अन्तरङ्ग में कषाय की तीव्रता है जो कषाय को शान्त करने के लिए ज्ञान की उपयोगिता से अनभिज्ञ है, जो बिना मोक्षलक्ष्य के बाह्य तपश्चरण एवं क्रिया-काण्ड को ही साक्षात् मोक्षमार्ग रूप सर्वस्व समझकर अपने को धर्मात्मा मानता है, चारित्र की विशुद्धि में कारण दर्शन और ज्ञान की ओर जिसकी दृष्टि नहीं है प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान नहीं है तथा व्यवहार के द्वारा साध्य निश्चय आत्म-स्वरूप से जो अपरिचित है वह व्यवहाराभासी है । उसका व्यवहार वस्तुतः व्यवहार नहीं है । यद्यपि ऐसे व्यक्ति से समाज को विशेष हानि नहीं है तथा पुण्य कार्यों के सम्पादन से शुभ का बन्ध होता है, लाभ ही है तथापि व्यवहाराभासी मोक्ष का पात्र नहीं है ।

इतना अवश्य है कि निश्चयाभासी की अपेक्षा व्यवहाराभासी भला है । व्यवहाराभासी भद्रपरिणामी हो तो यथार्थ मार्ग पर आने की संभावना अधिक रहती है क्योंकि वह प्रयत्नशील है, सक्रिय है, विनम्र है । शुभगति का पात्र होने से यथार्थ मार्ग सरल हो सकता है ।

43. उभयाभास

जो व्यवहार और निश्चय दोनों को अलग-अलग मोक्षमार्ग मानता है वह उभयाभासी है । व्यवहार और निश्चय ये दोनों प्रमाण के अंश है । इनका लक्ष्य एक ही पदार्थ होता है किन्तु उभयाभासी दोनों को स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् मानकर दो मोक्षमार्ग मानता है । ऐसा उभयाभासी सच्ची प्रतीति से अनभिज्ञ है ।

उपरोक्त प्रकार नयों के दुरूपयोग देखने में आते हैं । पू. ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने वाङ्मय में इसका सुष्ठु निरूपण किया है । उनका आशय है कि समीचीन दृष्टि से देखनेवाला व्यक्ति व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य मानता है हटवाद उसकी प्रकृति में नहीं रहता । वह जानता है कि मोक्षमार्ग तो एक ही है उसके दो पहलू हैं । जो सिद्धि के इच्छुक हैं उन्हें साध्य-साधन भाव से दो रूपों को धारण करनेवाले किन्तु वस्तु रूप से एक आत्मा की सम्यक् उपासना करना चाहिए । मुमुक्षु को न निश्चय का पक्ष है न व्यवहार का । वह बाह्य धर्म साधन करते हुए अन्तरंग भाव विशुद्धि पर ध्यान रखता है, ज्ञान सापेक्ष क्रिया का अनुपालक है तथा क्रम को स्वीकार कर पहले पाप को छोड़कर पुण्य का निष्ठावान् होकर आचरण करता है । पश्चात् जब शुद्धोपयोग रूप परम मुनिदशा में स्थित हो जाता है तो वहाँ पुण्य भी स्वतः ही छूट जाता है । पाप को तो प्रयत्नपूर्वक

नियम-प्रतिज्ञा आदि करके छोड़ना पड़ता है, किन्तु पुण्य के विषय में ऐसा नहीं है । पाप और पुण्य में कर्म सामान्य की अपेक्षा समानता होने पर भी बड़ा अन्तर है । एक ही गति निम्नता की ओर है तो दूसरे की ऊर्ध्वता की ओर ।

निश्चय-व्यवहार निषयक पं. टोडरमलजी का निम्न छन्द उपयोगी है -

''कोऊ नय निश्चय सौं आतमा को शुद्ध मानि
भये हैं सुछन्द न पिछानैं निज शुद्धता ।
कोऊ व्यवहार जप तप दान शील को ही,
आतम को हित मानि छांड़त न मुद्धता ॥
कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारग को
भिन्न--भिन्न पहचानि करैं निज उद्धता ।
जब जानैं निश्चय के भेद व्यवहार सब
कारण है उपचार मानैं तब बुद्धता ॥

पुरुषार्थ सिद्धियुपाय टीका ॥

पं. पू. आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के नय निरूपणवित्त्व का समुचित मूल्यांकन करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है । प्रस्तुत प्रबन्ध तो उनके महत्कार्य की सूचना मात्र ही कहना संगत होगा । उन परम पूत मनीषी के समाज हित में सम्पादित नय विषयक व्याख्यान को हमने अपनी बुद्धि अनुसार स्पष्ट करने मात्र का प्रयत्न किया है । प्रयास यह रहा कि यथासंभव उनके ही वचनों को अधिकाधिक प्रस्तुत किया जाय ।

पू. आचार्यश्री ने स्वयं व्यवहार-निश्चय की एकात्मता, अविरोध को स्वयं स्पृष्ट किया था । उनकी दृष्टि में निश्चय यदि आवश्यकता है तो व्यवहार आविष्कार, निश्चय शक्ति है तो व्यवहार व्यक्ति, निश्चय फूल है तो व्यवहार कली, निश्चय दृष्टि है तो व्यवहार सृष्टि और निश्चय यदि लक्ष्य है तो व्यवहार पाथेय । उनके विश्लेषण से वस्तुस्वरूप का यथार्थ बोध प्रत्येक अध्येता को होगा ।

वर्तमान में पं. पू. 108 आचार्यश्री विद्यासागर महाराज महर्षि कुन्दकुन्द के तप-त्याग-अध्यात्म की प्रतिरूपता को धारण कर रहे हैं । उनके ही मार्गानुसारी कृपामात्र प्रिय शिष्य पू. 108 मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज असीम वात्सल्य एवं अनुकम्पा के धनी हैं, उन्होंने अपने दादा गुरु प. पू. 108 आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के ज्ञान-गौरव को सम्यक् हृदयंगम करके उसके प्रकाशन और प्रचार आदि का बीड़ा उठाया है । वे अनवरत श्रावकों को इस महान कार्य के सम्पन्न करने हेतु चंचला लक्ष्मी के सदुपयोग करने की प्रेरणा देते रहे हैं। उनकी प्रभावना चतुर्मुखी है । ज्ञान प्रसार हेतु उन्होंने विद्वद्वर्ग की समुचित प्रतिष्ठा करते हुए गोष्ठी, ग्रन्थलेखन, प्रकाशन आदि के महनीय कार्यों को उनसे सम्पादित कराने में भागीरथ के समान प्रयत्न किया है । प्रस्तुत प्रबन्ध भी उनकी ही प्रेरणा से पूरा हो गया । उनके आशीर्वाद से ही यह कार्य मुझसे संभव हो सका । मैं उन्हें अन्तरतम से कोटि-कोटि नमन करता हूँ।

अन्त में समग्र रूप में प. पू. आचार्य ज्ञानसागरजी, प. पू. आ. विद्यासागरजी एवं पुनः प. पू. मुनिराज सुधासागरजी महाराज के चरणों में विनयाञ्जली ।

पुनश्च, आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का वाङ्मय गम्भीर समुद्र के सदृश ही है मैं अल्प क्षयोपशम का धारक हूँ, अभ्यास भी विशेष नहीं है, उपयोग की चंचलता भी है अतः प्रमाद एवं अज्ञान वश त्रुटियाँ अवश्यमेव संभव है, एतदर्थ क्षमा चाहता हूँ । विद्वद्वर्ग से प्रार्थना है कि अपेक्षित सुधार करने की कृपा करें । मुझे भी अवगत करायें ताकि मैं भी संशोधन कर सकूँ ।

आगम सेवक - **शिवचरन लाल जैन**

मैनपुरी

दि. 9–9–96 सोमवार

॥ इति शुभम् ॥

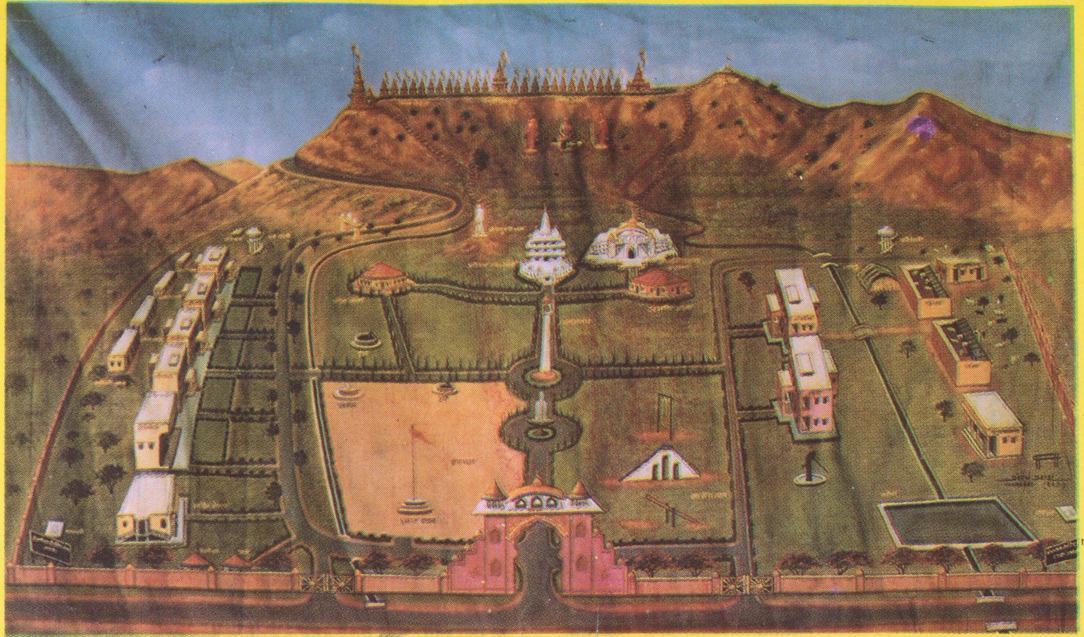

अ. भा. श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र, नारेली–अजमेर (राज.)

"निओ" अजमेर